आनन्दवाद

(शांकर-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में)

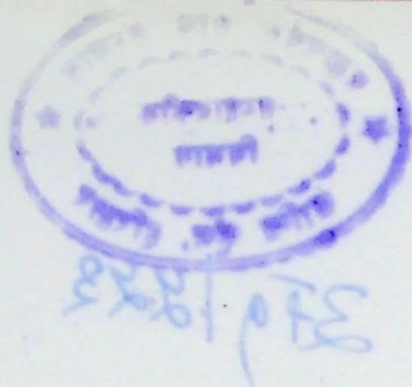
डॉ० सीमा कंवर

वेदान्त दर्शन एक अनुभव दर्शन है। जीवन और जगत से सम्बन्धित विषयों पर प्रतिपादित सूक्ष्म तात्त्विक विचारों के संकलन को दर्शन कहा जाता है। वैदिक कालीन ऋषि तात्त्विक चिन्तन द्वारा इस अन्तिम निश्चय पर पहुँचे थे कि नानाभावापन्न प्रतीत होने वाला यह जगत वास्तव में एक ही शाश्वत अध्यात्म-तत्त्व की अनेक रूपों में अभिव्यक्ति है अर्थात् एक ही सच्चिदानन्द परमसत्ता अपने ही संकल्प से विविध भावों में व्यक्त होकर जगत रूप धारण किए हुए है। अद्वैत वेदान्त की मान्यता है कि एकमात्र तात्त्विक पदार्थ निर्गुण, कूटस्थ, नित्य, सच्चिदानन्द ब्रह्म है।

आनन्दवाद का सिद्धान्त भारतीय दर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। आनन्दवाद के सम्बन्ध में दार्शनिकों एवं विद्वानों ने भिन्न दृष्टि से विचार किया है। शंकराचार्य की आनन्दवादी दृष्टि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आनन्द शब्द का अर्थ एवं स्वरूप विश्लेषण विस्तार से किया गया है। वहीं संहिताओं, उपनिषदों तथा श्रीमद्भगवद्गीता में आनन्दवाद की पृष्ठभूमि का वर्णन करते हुए शांकर वेदान्त में आनन्द का वर्णन विविध दृष्टियों से प्रस्तुत किया गया है। आनन्दवाद के सम्बन्ध में लौकिक तथा अलौकिक दोनों ही दृष्टियाँ प्रस्तुतीकरण के मूल में निहित रही हैं। यहाँ वेदान्त के स्तोत्र साहित्य में आनन्द का स्वरूप प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया गया है, जहाँ वैष्णव दर्शन का आनन्दवाद भक्तिरस से पूर्ण है वहाँ वेदान्त का आनन्दतत्त्व आत्मानुभूति स्वरूप है। वेदान्त का आनन्द आत्मनिष्ठ तथा सर्वथा आध्यात्मिक है। अतः इस पुस्तक के अन्तर्गत आनन्दवाद का मूल्यांकन अनेक परिप्रेक्ष्यों में किया गया है। इस विवेचन के अन्तर्गत लेखिका की दृष्टि आध्यात्मिक एवं लौकिक आनन्द से सम्बन्धित रही है। साथ ही शांकर वेदान्त के आनन्दवाद का आधुनिक दृष्टि से वर्णन भी विद्यमान है। विषय को अनेक दृष्टान्तों के माध्यम से स्पष्ट करते हुए रोचक बनाने का प्रयास किया गया है।

आशा है नवागन्तुक शोधछात्र एवं प्रत्येक वर्ग एवं आयु के पाठकगण अवश्य ही इस पुस्तक को पढ़कर लाभान्वित होंगे।





वेदान्त
जगत से
तात्त्विक वि
वैदिक काल
निश्चय पर
यह जगत
की अनेक
सच्चिदानन
भावों में व
अद्वैत वेदा
पदार्थ निर्गु

आनन्द
अत्यन्त मह
में दार्शनिव
है। शंकराच
है। प्रस्तुत
विश्लेषण
उपनिषदों
पृष्ठभूमि क

का आनन
आनन्द अ
इस पुस्त
अनेक प
अन्तर्गत
आनन्द से
आनन्दवा
है। विषय
हुए रोचक

आशा
आयु के
लाभान्वि

आनन्दवाद

(शांकर-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में)





आनन्दवाद

(शांकर-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में)



डॉ० सीमा कंवर

आई.बी.ए. पब्लिकेशन्स
6269 पी, निकलसन रोड
अम्बाला छावनी-133001



ISBN : 978-8187883-54-8

आनन्दवाद (शांकर-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ० सीमा कंवर

प्रथम संस्करण	:	2014
©	:	**डॉ. सीमा कंवर**
प्रकाशक	:	**आई.बी.ए. पब्लिकेशन्स** 6269/पी, निकलसन रोड अम्बाला कैंट–133 001
मुद्रक	:	विशाल कौशिक प्रिंटर्स, दिल्ली
टाइप सैटिंग	:	ए.वी. कम्प्यूटर्स, अम्बाला कैंट
मूल्य	:	350.00 रुपये

Anandwaad – by Dr. Seema Kanwar

First Edition	:	2014
©	:	**Dr. Seema Kanwar**
Published by	:	**IBA Publications** 6269/P, Nicholson Road, Ambala Cantt - 133 001 (INDIA) ibapublications@hotmail.com
Printed by	:	Vishal Kaushik Printers, Delhi
Type Setting	:	A.V. Computers, Ambala Cantt.
Price	:	Rs. 350.00

परम पूज्य गुरु

स्व. प्रोफ़ेसर राममूर्तिशर्माणाम्

पाद – पंकजेषु सादरं

समर्पितम्

अनुक्रम



पुरोवाक्

भारतीय दर्शन के विचारकों की सूक्ष्म दृष्टि सदैव अन्तर्मुखी रही। उन्होंने तपश्चर्या एवं ऐकान्तिक साधना के द्वारा उस परमतत्त्व का साक्षात्कार किया, जिसके आलोक से चराचर जगत् प्रकाशित है। बहिर्मुखी वृत्ति के द्वारा अन्तरात्मा का साक्षात्कार सर्वथा असम्भव है। अन्तर्मुखी वृत्ति के विशेष आचार्यों में अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य शंकराचार्य का नाम प्रमुख है। अद्वैत अथवा शांकर वेदान्त उपनिषदों, विशेष रूप से प्राचीनतम उपनिषदों बृहदारण्यक और छान्दोग्य के बहुत निकट है। शंकराचार्य, जो प्रस्थानत्रयी के प्रमुख प्रतिष्ठापक माने जाते हैं, ने प्रस्थानत्रयी पर रचे गए अपने भाष्यों में अद्वैत का प्रतिपादन और समर्थन किया है। अद्वैत वेदान्त की मुख्य मान्यताएं तीन हैं:- (1) एकमात्र तात्त्विक पदार्थ निर्गुण, कूटस्थ, नित्य, सच्चिदानन्द ब्रह्म है। (2) जीव और ब्रह्म एक ही है। (3) जीव और ब्रह्म में जो भेद दिखाई देता है अथवा जीव जो बन्धनग्रस्त दिखाई पड़ता है, उसका कारण अनादि अविद्या है, यह दृश्यमान् जगत माया का कार्य अथवा मिथ्या है। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि अद्वैतवाद का तात्पर्य ब्रह्म की सत्यता, जगत के मिथ्यात्व तथा जीव ब्रह्म के ऐक्य से है। वस्तुतः वेदान्त एक अनुभव दर्शन है। ब्रह्म पूर्ण रूप से अनुभव द्वारा ही अवगम्य है। यद्यपि शांकर वेदान्त के अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, परन्तु आनन्दवाद (शांकर-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में) बोधक ग्रन्थ मेरे देखने में नहीं आया इसी न्यूनता को अनुभव करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की गई।

इस पुस्तक का विषय आनन्दवाद (शांकर-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में) है। इसलिए इस ग्रन्थ के अन्तर्गत आनन्दवाद का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत संहिताओं, उपनिषदों तथा श्रीमद्भगवद्गीता में आनन्दवाद की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए शांकर वेदान्त के अन्तर्गत आनन्द का वर्णन विविध दृष्टियों से प्रस्तुत किया गया

है। इसके अतिरिक्त वेदान्त के स्तोत्र साहित्य में भक्ति परक आनन्द का स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया गया है। वैष्णव दर्शन के आनन्दवाद एवं शांकर वेदान्त के आनन्दवाद में यही भेद है कि वैष्णव दर्शन का आनन्दवाद भक्तिरस से परिपूर्ण है, जबकि शांकर वेदान्त का आनन्दतत्त्व ब्रह्मस्वरूप होने के कारण सर्वथा आत्मानुभूति स्वरूप है। इस ग्रन्थ के षष्ठ अध्याय में वैष्णव दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत आनन्द तत्त्व का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही शांकर वेदान्त के आनन्दवाद का आधुनिक दृष्टि से वर्णन भी वर्तमान है। आशा है आनन्द के जिज्ञासुओं एवं विशिष्ट दार्शनिकों को लेखिका का यह प्रयास पसंद आएगा।

पुस्तक के प्रस्तुतीकरण के अवसर पर सर्वप्रथम मैं ईश्वर एवं अपने माता पिता को नमन करती हूँ जिनके अनुग्रह एवं आशीर्वाद से यह कार्य पूर्ण हो सका। मैं अपने स्वर्गीय गुरु प्रोफेसर राममूर्ति शर्मा के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने शांकर वेदान्त में आनन्दवाद के समान गूढ़ विषय को अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य तथा वात्सल्यपूर्ण मार्गदर्शन के द्वारा मेरे लिए बोधगम्य बना दिया। उसी का परिणाम है कि मैं इस जटिल एवं गहन विषय पर अपने विचारों को प्रवहमान कर सकी। उनको मेरा कृतज्ञचित्त से नमन। पुस्तक रचना में मैं अपने पति ललित कंवर की भी आभारी हूँ जिनकी सतत प्रेरणा, प्रोत्साहन, एवं अन्य सुविधाएं प्रदान कराने के कारण ही मैं पुस्तक को सम्पूर्ण करने में समर्थ हुई हूँ, अपने पुत्रों कंवर युवराज एवं कंवर भाग्यराज को भी विशेष आशीष देती हूँ, दोनों का भी पुस्तक के प्रकाशन को संभव बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। मैं विनम्र साधुवाद करती हूँ सभी विद्वानों एवं मित्रों को जिनकी पुस्तकों, मूल्यवान विचारों एवं सकारात्मक सहयोग से पुस्तक को लिखने में समर्थ हुई हूँ।

मैं श्री एस०बी० बैनर्जी, आई०बी०ए० पब्लिकेशन के मालिक की भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस कार्य के प्रकाशन एवं मुद्रण का भार लेकर मुझे चिन्ता विनिर्मुक्त किया है।

डॉ० सीमा कंवर

संक्षेपाक्षर

1.	अथर्ववेद	अथर्व०
2.	इष्टसिद्धिः	इ० सि०
3.	ईशोपनिषद्	ई० उ०
4.	ऐतरेयोपनिषद्	ऐ० उ०
5.	ऋग्वेद संहिता	ऋक्०
6.	कठोपनिषद्	कठ० उ०
7.	केनोपनिषद्	के० उ०
8.	छान्दोग्योपनिषद्	छा० उ०
9.	तैत्तिरीयोपनिषद्	तै० उ०
10.	पंचपादिका	पं० पा०
11.	पाणिनिसूत्र	पा० सू०
12.	बृहदारण्यकोपनिषद्	बृ० उ०
13.	बृहदारण्यक भाष्य – वार्तिक	बृ० भा० वा०
14.	ब्रह्मसूत्र – शांकरभाष्य	ब्र० सू० शा० भा०
15.	माण्डूक्यकारिका	मा० का०
16.	मुण्डकोपनिषद्	मु० उ०
17.	विवेकचूड़ामणि	वि० चू०
18.	शांकर भाष्य	शा० भा०
19.	संक्षेपशारीरकम्	सं० शा०
20.	सायण भाष्य ऋग्वेद संहिता	सा० भा० ऋक्०





प्रथम अध्याय

आनन्द शब्द का अर्थ एवं स्वरूप विश्लेषण मानव जीवन में आनन्द का महत्त्व

मानव जीवन में आनन्द के महत्त्व पर प्रकाश डालने से पहले आनन्द शब्द की व्युत्पत्ति और उसके अर्थ को जानना आवश्यक है। आनन्द (पु०) में आ उपसर्ग पूर्वक, नन्द धातु और घञ् प्रत्यय है। जिसका अर्थ है हर्ष, सुख, प्रसन्नता। ईश्वर। ब्रह्म। शिव का नाम। सर मोनियर विलियम्स द्वारा सम्पादित कोश में आनन्द शब्द का अर्थ लिया गया है - To rejoice, be delighted, gladden to bliss, happiness, pure happiness, joy, enjoyment, sensual pleasure[2] आप्टे कोश में आनन्द शब्द का अर्थ लिया है - Rejoicing in the soul, happiness, Supreme bliss, felicity, God supreme spirit, pleasure.[3]

कार्ल कैपलर के अनुसार आनन्द शब्द का अर्थ है - Joy, pleasure, blissful, made up of joy, gladdening.[4]

वीरमणि प्रसाद उपाध्याय के अनुसार Ananda is pure unexcellable & eternal bliss.[5] अर्थात् ब्रह्म न केवल शुद्ध और स्वप्रकाशदायक ज्ञान बल्कि नित्य और निरतिशय आनन्द है।

वेदान्त एक आनन्दवादी दर्शन है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य की चरम उपलब्धि बह्मानुभव तथा आनन्द का स्वरूप है। वेदान्त का आनन्द आत्मनिष्ठ तथा सर्वथा आध्यात्मिक है। यह इन्द्रियातीत एवं विषयातीत होने के कारण लौकिक आनन्द से पृथक् है। यह आनन्द आत्मानुभव की ही

स्थिति का नाम है। तैत्तिरीयोपनिषद् में शंकराचार्य का कथन है कि 'आनन्दं इति परं ब्रह्म' (तै० उ० शा० 2/5/1) अर्थात् आनन्द यह परब्रह्म का ही वाचक है। वही शुभ कर्म द्वारा पुत्र-मित्रादि विषय ही जिसकी उपाधि है, उस सुप्रसन्न अन्तःकरण की वृत्ति विशेष में, जबकि वह तमोगुण से आच्छादित नहीं होता, अभिव्यक्त होता है।

आनन्द से ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश उत्पन्न होते हैं, आनन्द से जीते हैं और आनन्द में लय हो जाते हैं (तै० उ० 3/6/1)। इस आनन्द के अंशमात्र के आश्रय से ही सब प्राणी जीवित रहते हैं (बृ० उ० 4/3/32)। ब्रह्मानन्द से ही जगदानन्द होता है, जिसमें श्रुति भी प्रमाण है। 'ब्रह्मानन्दं लब्ध्वा ऋतमानन्दो भूत्वेति श्रुतेः' ब्रह्मानन्द को प्राप्त होकर सत्य आनन्द होता है। अर्थात् समस्त प्रपंच सहित जो आनन्द है वही आनन्द समस्त जगत् प्रपंच को आनन्दित करता है। अतएव अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय से युक्त पञ्चकोशात्मक जो जीव है, वही आनन्द को प्राप्त करता है और सत् चित् आनन्द स्वरूप कहा जाता है।

यहां यह उल्लेख करना भी समीचीन होगा कि अद्वैत वेदान्त में ब्रह्मसाक्षात्कार, आत्मसाक्षात्कार, आत्मानुभव, ब्रह्मानुभव, आत्मज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान प्रायः सभी एक ही तात्पर्य के बोधक हैं। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए गुरु के साथ शिष्य का श्रवण, मनन, निदिध्यासन आवश्यक है। बृहदारण्यकोपनिषद् में ही शंकराचार्य का कथन है कि आत्मा ही दर्शन करने योग्य है तथा पहले आचार्य और शास्त्र द्वारा श्रवण करने योग्य, फिर तर्क द्वारा मनन करने योग्य है, इसके पश्चात् वह निदिध्यासितव्य अर्थात् निश्चय से ध्यान करने योग्य है। क्योंकि इस प्रकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन रूप साधनों के सम्पन्न होने पर ही इसका साक्षात्कार होता है। जिस समय इन सब साधनों की एकता होती है, उसी समय ब्रह्मैकत्वविषयक सम्यक् दर्शन का प्रसाद होता है।[6]

जीव और ब्रह्म के एक हो जाने से तथा उस जीव के लिए माया

के विलीन हो जाने से साधक मोक्ष रूप लक्ष्य को प्राप्त करता है। आनन्द का यह साक्षात्कार नित्य है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार जब ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तो इसके हृदय में परमानन्द का उद्रेक होने लगता है, वह देखता है कि उसके सम्मुख ब्रह्म है तथा उसके पीछे भी ब्रह्म है।[7] जो कोई उस ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उसके कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता। वह शोक को तर जाता है, पाप को पार कर लेता है और अज्ञान ग्रन्थियों से विमुक्त होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है।[8] अनन्त ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर इस जीव के हृदय की अज्ञान ग्रन्थि का भेदन हो जाता है। सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके कर्म क्षीण हो जाते है।[9]

आनन्द नित्य और निरतिशय है, इसका छान्दोग्यश्रुति ''यो वै भूमा तत सुखम्'' (छा० 7/23/1) के अन्तर्गत भी निरूपण किया गया है कि आनन्द सदा अनन्त मात्रा का होता है, सीमित मात्रा का होता ही नहीं, क्योंकि आनन्द प्राप्ति का अभिप्राय ही यह है कि उसके ऊपर फिर कभी भी दु:ख का अधिकार न हो सके एवं उससे बड़ा कोई आनन्द न हो। जैसे प्रकाश पर अन्धकार का अधिकार नहीं हो सकता, उसी प्रकार एक बार आनन्द प्राप्त होने पर दु:ख का अधिकार नहीं हो सकता। ईशोपनिषद् में भी कहा है कि ''तत्र को मोह को शोक: एकत्वमनुपश्यत:'' अभिप्राय जीव और ब्रह्म का एकत्व कर लेने पर शोक और मोह कैसे हो सकते हैं।

मैं ब्रह्म अर्थात् मैं आनन्दघन रूप हूँ, मैं परमानन्दघन हूँ ऐसा ज्ञान हो जाने से जिसका देहादि से सम्बन्ध नहीं रहता, जिसको, मैं ब्रह्म हूँ ऐसा निश्चय हो गया वह परम आनन्द से पूर्ण हो जाता है, उसमें अहं का भाव नहीं रहता।[10] और उस ब्रह्मानन्द को जानकर विद्वान् किसी से भयभीत नहीं होता।[11]

कठोपनिषद् में भी स्पष्ट कहा गया है कि जब तक मनुष्य को ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक मनुष्य पुन: - पुंन: इस संसार में जन्म लेता रहता है और उन्हीं के अनुसार सुख - दु:ख और मृत्यु को प्राप्त

करता रहता है और जब उसे ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, समस्त कामनायें नष्ट हो जाती है, तभी वह इस जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[12]

अतः मानव जीवन के आनन्द के महत्त्व में यह कहा जाएगा कि जिस प्रकार लौकिक आनन्द का लाभ करके मनुष्य प्रफुल्लित अनुभव करता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक आनन्द का लाभ करने के पश्चात् मनुष्य परम एवं असीम आनन्द का लाभ करता है। यह आनन्द शाश्वत आनन्द है।

शाश्वत आनन्द की चर्चा करने से पूर्व यहां यह जानना अनिवार्य हो जाता है कि लौकिक जीवन एव आनन्द, आध्यात्मिक जीवन एवं आनन्द, आनन्द के विविध स्वरूप, दार्शनिक दृष्टि से आनन्द तथा शांकर वेदान्त में आनन्द की स्वरूप प्रतिष्ठा पर विचार करना अति आवश्यक है। तथा साथ ही आनन्द के सम्बन्ध में किए गए अध्ययन तथा प्रस्तुत अध्ययन की क्या आवश्कताएं हैं पर प्रकाश डालना अनिवार्य है।

लौकिक जीवन एवं आनन्द

लौकिक जीवन से अभिप्राय सांसारिक जीवन से है, इस संसार की प्रतीति कब होती है? इसका उत्तर शंकराचार्य ने अपने गीता के भाष्य में दिया है कि जब कार्य-कारण-रूप हेतु और फल के आकार में परिणत हुई भोग्यरूपा प्रकृति के साथ उससे विपरीत धर्म वाले पुरुष का, भोक्ता-भाव से अविद्या रूप संयोग होगा, तभी संसार प्रतीत होगा। तो यह संसार नामक वस्तु क्या है? इसका भी उल्लेख गीता में किया गया है कि सुख-दुःखों का भोग ही संसार है और पुरुष में जो सुख-दुःखों का भोक्तृत्व है, यही उसका संसारित्व है (श्री मद्भगवद् गीता शा० भा०, 13/20)। यह जो कहा कि सुख-दुःखों का भोक्तृत्व ही पुरुष का संसारित्व है, तो वह उसमें किस कारण से है? तो बतलाते हैं कि जीवात्मा प्रकृति में स्थित है अर्थात् कार्य और कारण के रूप में परिणत हुई अविद्यारूपा प्रकृति में स्थित है। प्रकृति को अपना स्वरूप मानती है, इसलिये वह प्रकृति से उत्पन्न हुए सुख, दुःख

और मोहरूप से प्रकट गुणों को ''मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, मूढ़ हूँ, पण्डित हूँ'' इस प्रकार मानता हुआ भोगता है। यद्यपि जन्म का कारण अविद्या है फिर भी भोगे जाते हुए सुख-दुःख और मोहरूप गुणों में जो आसक्त हो जाना है, वह जन्मरूप संसार का प्रधान कारण है। गुणों का संग ही अर्थात् गुणों में जो आसक्ति है वही इस भोक्ता पुरुष के अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है।[13]

शतश्लोकी में भी कहा गया है कि आत्मा ही सत्, चित् और सुखस्वरूप है, वह अनुभव द्वारा समस्त देहादि का नियन्ता माना गया है। ऐसा होने पर भी मूढ़बुद्धि पुरुष सर्वदा इस अनित्य देहात्मबुद्धि को ही आश्रय देता है। सब लोग अपने और पराये शरीरों को बाहर से अस्थि, स्नायु, मज्जा, मांस, रुधिर, चर्बी और भेदयुक्त तथा भीतर से मल, मूत्र और कफादि से भरा हुआ जानकर भी, ये देह, स्त्री, पुत्र, मित्र, सेवक, घोड़े और बैल मेरे सुख के साधन हैं - ऐसा जानकर इस मांस मीमांसा में ही अपने सुप्रसिद्ध मानव जीवन को नष्ट कर देते हैं, अपने-अपने व्यवहार में समर्थ होते हैं तो जो इनके सौभाग्य का कारण है, अपने अन्तःकरण में स्थित उस प्राणाधीश अमृततत्त्व का वे मूढ़ जीव कुछ विचार नही करते। जिस प्रकार कोई चतुर कीड़ा किसी प्रकार एक कांटों का घोंसला बनाकर आयुपर्यन्त उसी के साथ व्यवहार करता रहता है, उसी प्रकार जीव भी अपने नाना प्रकार के आचरणों से उदित हुए प्रारब्ध कर्मों द्वारा यह स्थूलदेह रचकर इसी में स्थित हो प्रतिदिन इसी के साथ पृथ्वी में विचरण करता है।

शतश्लोकी में यह भी कहा गया है कि आत्मा के सिवा और सब पदार्थ तो शोक के ही स्थान हैं। आत्मा की प्रीति से ही अपना शरीर, स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रीतिपात्र होते हैं। इस लोक में जिस विषय से जितना सुख प्राप्त होता है, उसमें उतनी ही प्रियता होती है और जिससे जितना दुःख होता है, उसमें उतनी ही अप्रियता होती है परन्तु एक ही विषय में ये दोनों गुण हर समय कभी नहीं रह सकते। क्योंकि किसी समय अप्रिय भी प्रिय हो जाता है और प्रिय भी अप्रिय हो जाता है, अतः नित्य प्रिय तो एक आत्म

तत्त्व ही है।[23] लोक में श्रेय और प्रेय दोनों ही काम्य और आत्यन्तिक रूप से दो-दो प्रकार के बताये गये हैं। उनमें काम्य श्रेय अर्थात् स्वर्गादि और प्रेय अर्थात् स्त्री पुत्रादि तो एकमात्र दुःख के ही बीज और पलभर में ही फीके पड़ जाने वाले हैं - उन्हें मूर्ख लोग ही प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु आत्यन्तिक श्रेय एवं प्रेय तो ब्रह्म ही है जो सर्वाधिक सुख का स्थान है।[24]

त्रिलोक में जितने जीव हैं वे सब सुख के लिए ही प्रयत्न करते हैं - दुःख के लिए नहीं। देह में अहं बुद्धि होना और अहं बुद्धि से आत्मीय अर्थात् देह पुत्रादि विषयों में ममता उत्पन्न हो जाना दोनों ही दुःख के स्थान हैं। इसी से मानव आत्मा को शरीर से पृथक् समझ कर भी मोहवश इस शरीर में ही नित्य आत्मबुद्धि कर उसके रोग और आघात आदि का कष्ट सहते हैं तथा ममता के कारण ही स्त्री या पुत्र के नष्ट हो जाने पर बड़ी मुसीबत में पड़ जाते हैं, किन्तु शत्रु के नष्ट होने पर नहीं।[15] अतः अद्वैतामृतसार में भी कहा गया है कि सांसारिक जीवन अशेष दुःखों से पूर्ण है।[16] शंकराचार्य ने अपने गीता भाष्य में ब्रह्म को ही संसार वृक्ष का मूल बताया है।[17]

जब तक परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता तभी तक लौकिक प्रमेय और प्राणादिकों का याथार्थ्य स्वीकृत होता है और तभी तक वे विचारयोग्य और फलदायक भी होते हैं (अद्वैतामृतसार 1/16)। अनात्म बुद्धि से आवृत चेतना को धारण कर साधारण जीव इस जगत् को भेदपूर्ण ही देखते हैं वे स्वयं भी अपने को खण्डित तथा सीमित अनुभव कर अशेष दुःख, क्लेश तथा भयों से विमूढ़ बने रहते हैं (अद्वैतामृतसार 1/22)। अतः सांसारिक विषयों के प्रति त्याग और स्वात्म स्वरूप का ज्ञान होना ही आनन्द है। ब्रह्म जीव एवं जगत् में भेद का प्रकाश शाश्वतिक नहीं है। माया के विकार भिन्न-भिन्न नाम और रूपयुक्त होते हैं, मिथ्या से उत्पन्न हुए इस संसार की वस्तुएं भी मिथ्या हैं तथापि जीवों का कर्मानुबन्धन दुःखों का विधान करता है (अद्वैतामृतसार 2/2)। यह जगत् ब्रह्म की तुलना में हीन व अपकृष्ट है परन्तु अभाव मात्र नहीं, अखण्ड सत्ता पर यह जगत् आरोपित है। अतः ब्रह्म के आश्रय में रहता हुआ यही लोगों के व्यवहार का विषय

बनता है। सब कुछ ब्रह्म ही है (अद्वैतामृतसार 2/7)।

मोह ही बन्धन है और मरणादि दु:ख भी वही है, प्रतिभासित वस्तुओं तथा भेदों में परम अभेद रूप से ब्रह्म ही एक सत्य है (अद्वैतामृतसार 2/23)। सांसारिक ज्ञान पारमार्थिक नहीं होता। यह ज्ञान लौकिक व्यवहार का मूल तथ्य है, यह भेदाश्रित विशेषयुक्त तथा विचित्र ज्ञान प्रकाश होते ही अपनी सत्ता को छोड़ देता है।[18]

उपनिषदों के अनुसार लौकिक आनन्द भी ब्रह्मानन्द के ही अंश है (तै० उ० 2/8/1)। समस्त सांसारिक आनन्द उसी ब्रह्मानन्द के क्षुद्रकण हैं जिस प्रकार समस्त सांसारिक विषय उसी सत्ता के सीमित अंश हैं (बृ० उ० 4/3/32)। लौकिक आनन्द क्षणिक एवं सांसारिक भोगों में सम्बन्धित हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भी विषय भोगों को दु:ख का ही कारण बताते हुए उन्हें क्षणिक तथा शान्त बताया है। विषय और इन्द्रियों से उत्पन्न भोग तो अविद्या जन्य होने से केवल दु:ख के ही हेतु हैं (श्री मद्भगवत् गीता शा० भा० 5/22)।

अत: प्रत्येक प्राणी अपने ज्ञान और क्रिया के द्वारा सर्वाधिक सुख की प्राप्ति तथा सब प्रकार के दु:खों से निवृत्ति के लिए प्रयत्न करता है। ये सुख-दु:ख और मोह तथा ज्ञान, क्रिया और जड़ता के मूल कारण सत्व, रजस और तमस गुण हैं। व्यक्ति के जीवन में ऐसा कोई भी क्षण नहीं होता जिसमें यह गुण क्रियाशील न होते हों। एक गुण की प्रधानता अधिक होती है। सत्व की प्रधानता आनन्द है, रजस की प्रधानता दु:ख और तमस की प्रधानता मोह है। इस प्रकार लौकिक सुख में रजस और तमस गुण की प्रधानता होने के कारण शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से कुछ समय के लिए ही होता है। लौकिक सुख में हम वासनाओं को ही तृप्त करते हैं जिससे वे और बढ़ती जाती है।[39] लौकिक सुख क्षणिक एवं अवास्तविक ही हैं। दैनिक जीवन में जो थोड़ा सा आनन्द का अंश है, वह अत्यल्प एवं दु:ख से मिश्रित होने पर भी हमारे जीवित रहने की आशा बनाए रखता है। आत्मा से दूर जाकर सांसारिक विषयों के पीछे दौड़ते रहने से अधिक आनन्द नहीं मिल

सकता। विषयों का भोग करने की वासनाएं वे बेड़ियां हैं, जो हमें जकड़ कर सांसारिक बन्धन में रखती हैं और जिसमें जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है। वासनाओं के वेग हमें आत्मा से दूर ले जाते हैं और इच्छित विषयों के अनुरूप हमारे जीवन को निरूपित कर देते हैं। जितना ही हम विषय वासना का परित्याग करते हैं और आत्मा या ब्रह्म के साथ अपनी एकता देखते हैं, उतना ही अधिक हम परमानन्द प्राप्त करते हैं। आत्मा का दर्शन करना अनन्त, अविनाशी आनन्दमय ब्रह्म में मिल जाना है। यही ब्रह्मानन्द है। इसे प्राप्त कर लेने पर कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता।

आध्यात्मिक जीवन एवं आनन्द

ऊपर हमने लौकिंक जीवन एवं आनन्द के सम्बन्ध में विचार किया है। जैसा कि कहा जा चुका है कि लौकिक आनन्द क्षणिक एवं सांसारिक भोगों से सम्बन्धित है। उनसे प्राप्त होने वाले सुख अपेक्षाकृत कम दुःख के कुछ नहीं हैं। ऐसा ज्ञान हो जाने पर विषय वासनाओं के प्रति लालसा नहीं रहती, क्योंकि वह तो अल्प समय के लिए है। तब मानव अनन्त आनन्द की प्राप्ति हेतु आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है। उसमें सुख-दुःख, मोह, राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते। उसकी वृत्तियों में भी परिवर्तन हो जाता है। उस समय मानव अपना ध्यान धार्मिक प्रवृत्तियों की ओर लगाता है और परम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निष्काम भाव से कर्म करते हुए स्वात्म को जानने के लिए धार्मिक कार्यों में प्रवृत्त रहता हुआ जीवन व्यतीत करता है, तब मानव परम आनन्द की प्राप्ति के लिए विविध आध्यात्मिक विषयों को अपनाता है जैसे भक्ति, ज्ञान, योग, ध्यान, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि। उसका उद्देश्य ही परमानन्द को प्राप्त करना होता है। 'जयदयाल गोयन्दका' ने अपनी पुस्तक 'परम साधन' में आध्यात्मिक उन्नति के हेतु के बारे में वर्णन किया है।[19] उनके अनुसार - आत्मा परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होने के लिए सत्संग और स्वाध्याय करना, विवेक-वैराग्य पूर्वक संसार के विषय भोगों से मन और इन्द्रियों का संयम करना, निष्काम भाव से शास्त्र-विहित कर्मों का आचरण करना, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्काम भाव से

नित्य निरन्तर भगवान के नाम का जप और स्वरूप का ध्यान करना, साख्य-दास्य आदि भावों से भगवान् की उपासना करना, भगवान् की पूजा करना, उनको नमस्कार करना, उनकी स्तुति प्रार्थना करना, कथा कीर्तन करना, यम-नियम-आसन-प्राणायाम- प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि रूप अष्टांगयोग के द्वारा तथा अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म को यथार्थ रूप में जानने का साधन करना आदि सब आध्यात्मिक उन्नति के हेतु है। अतः इन साधनों में से कोई सा भी साधन परमात्मा की प्राप्ति के उद्देश्य से करना आध्यात्मिक उन्नति है।

तत्व चिन्तामणि में भी कहा गया है कि 'जो यहां निष्काम भाव से यज्ञ, दान, जप-ध्यान, तीर्थ-पर्व, व्रत, उपवास, सेवा, संयम और त्याग-तप आदि में लगे रहकर कष्ट सहते हैं और लोक दृष्टि में दुःखी माने जाते हैं, परन्तु इन साधनों और तपस्याओं के फलस्वरूप देह त्याग के पश्चात् वे परमगति को पाकर सदा के लिए परम शान्ति और परम आत्यन्तिक सुख को प्राप्त करेंगे।[20]

अध्यात्म शब्द का अर्थ ही आत्म निष्ठता का परिचायक है। आत्मनि अधि इतिअध्यात्मम्। शब्द अर्थ कौस्तुभ में भी अध्यात्म शब्द के अभिप्राय है आत्मा सम्बन्धी। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार परब्रह्म जो प्रत्येक शरीर में अन्तरात्मभाव है उसका नाम स्वभाव है, वह स्वभाव ही अध्यात्म कहलाता है।[21] अभिप्राय यह है कि आत्मा यानी शरीर को आश्रय बनाकर जो अन्तरभाव से उसमें रहने वाला है और परिणाम में जो परमार्थ ब्रह्म ही है वही तत्त्व स्वभाव है उसे ही अध्यात्म कहते हैं।

उपनिषदों में भी अध्यात्म शब्द का व्यवहार हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में 'मनोब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मम्[46] (छा० उप० 8/1) अर्थात् मन ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करे यह अध्यात्म दृष्टि है। शंकराचार्य ने भाष्य में व्याख्या करते हुए लिखा है - 'मनो मनुतेऽनेनेत्यन्तः करणं तद्ब्रह्म परमित्युपासीतेति, एतदात्मविषयं दर्शनं अध्यात्मम्।[22]

अर्थात् मन - जिससे प्राणी मनन करता है, उस अन्त:करण को मन कहते हैं वह परब्रह्म है - ऐसी उपासना करें। यह आत्मविषयक दर्शन अध्यात्म है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (10 / 32) के अन्तर्गत भी 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'[48] कहकर अध्यात्म विद्या का उल्लेख किया है। जयदयाल गोयन्दका ने अध्यात्मविद्या की व्याख्या करते हुए लिखा है कि अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या उस विद्या को कहते हैं जिसका आत्मा से सम्बन्ध है जो आत्म - तत्त्व का प्रकाश करती है जिसके प्रभाव से अनायास ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है संसार में ज्ञात या अज्ञात जितनी भी विद्याएं हैं इस ब्रह्म विद्या से निकृष्ट हैं, क्योंकि उनसे अज्ञान का बन्धन टूटता नहीं बल्कि और भी दृढ़ होता है, परन्तु इस ब्रह्म विद्या से अज्ञान की गांठ सदा के लिए खुल जाती है। और परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है।[23] शंकराचार्य ने अपने भाष्य में अध्यात्म - विद्या की व्याख्या करते हुए कहा है - कि मोक्ष प्रयोजन स्वरूपा होने के कारण अध्यात्म - विद्या समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ है।[24]

अब यहां आध्यात्मिक आनन्द के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा। आध्यात्मिक आनन्द, लौकिक आनन्द के विपरीत शाश्वत एवं परमानन्द है। आध्यात्मिक आनन्द वासनाओं के नियंत्रण में निहित है। आध्यात्मिक आनन्द में निरतिशय सुख की प्राप्ति हो जाने पर किसी प्रकार की भी अभिलाषा नहीं रह जाती। आध्यात्मिक आनन्द इन्द्रिय के सुखों से परे है। इसी का वर्णन कठोपनिषद् में प्रश्न के रूप में हुआ है। एक बार अजर और अमर जीवन के शाश्वत आनन्द का अनुभव कर लेने के बाद कौन क्षयशील मनुष्य सौन्दर्य और वासना के क्षणिक सुखों के चिंतन में आनन्द पा सकेगा।

इस प्रकार कठोपनिषद् में क्षणभर के अमर जीवन की आनन्दानुभूति के सामने ऐन्द्रिक सुख के दीर्घ जीवन की कामना की निन्दा की है। अत: अलौकिक सुख ही वास्तविक है। आध्यात्मिक आनन्द में निरतिशय सुख की प्राप्ति हो जाने पर किसी प्रकार की भी अभिलाषा नहीं रह जाती।

आध्यात्मिक आनन्द निरूपम और अतुलनीय है।[25]

आध्यात्मिक आनन्द ही शाश्वत एवं परमानन्द है। यह ब्रह्मानन्द ही निरतिशय सुख रूप है। जो व्यक्ति उस आनन्द को पा लेता है उसको जगत् के सभी आनन्द तुच्छ प्रतीत होते हैं। तब तक ही जगत् के आनन्द का अनुभव करता है जब तक ब्रह्म स्वरूप आनन्द को नहीं प्राप्त कर लेता। अद्वैतामृतसार में भी कहा गया है कि विद्वान् व्यक्तियों के योग्य यथार्थ आत्मतत्व ज्ञात होते ही स्वारूप्य बोध से वह विद्वान् समस्त जगत् में ऐक्य बुद्धि को प्राप्त करता है और माया के विकार तथा भ्रम जनित द्वैत बुद्धि व भेदों का परित्याग करके ब्रह्म और आत्म में चिरकालीन ऐक्य का अनुभव करता हुआ स्वयं स्वस्थ अर्थात् नित्य व निर्भय होता है।[26] वह मुक्त जीव कर्म तथा जन्मादिकों के लेश से पुनः आक्रान्त नहीं होता है। वह पूर्णप्रज्ञ, सद्, विभु, निष्काम तथा प्रशान्त हो जाता है। वह उत्तम और साक्षात् बुद्धि से अपनी आत्मा के दर्शन कर सर्वत्र ऐक्य व साम्य का अनुभव करता हुआ निरन्तर उस अमृत, अभय व आनन्द आत्मा तथा ब्रह्म की सेवा करता अर्थात् उसकी अवस्था को ही प्राप्त होकर नित्यानन्द का अनुभव करता है।[27]

आनन्द के विविध स्वरूप

आनन्द तत्व जीवन का परम साध्य है, किन्तु उस आनन्द के अनेक स्वरूप देखने को मिलते हैं जिनमें लौकिक एवं अलौकिक स्वरूप प्रमुख हैं। जहां लौकिक आनन्द का सम्बन्ध भौतिक पदार्थों से है वहां आध्यात्मिक आनन्द नितान्त आत्मिक है। जहां शंकराचार्य ने आत्मिक आनन्द ही माना है वहां अन्य अद्वैत मतानुयायियों के अनुसार भी आत्मा ही वस्तुतः आनन्द है। विमुक्तामा ने ही इष्टसिद्धि में आत्मा के आनन्दस्वरूप की मीमांसा में आत्मा के व्यक्त और अव्यक्त के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शुभ कर्म से उपस्थित किसी विषय से इन्द्रिय-संयोग होने से अन्तः करणवृत्ति प्रसन्न होती है, इस वृत्ति में आत्मा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी का हम जीवन में आनन्द नाम से अनुभव करते हैं। परन्तु शास्त्र इसे विषय सुख कहता है। जिसकी छाया मात्र से अन्तःकरण में

आनन्दरूपता आती है वह आत्मा ही वस्तुत: आनन्द है।[28]

चित्सुखाचार्य ने तत्व प्रदीपिका में आत्मा को नित्य सुखरूप मानने पर मुक्ति व संसार दशा में कोई अन्तर न रहेगा इस शंका का समाधान करते हुए कहा है कि संसार दशा में वह सुख अविद्यारूप तिमिर से आवृत्त था, और मुक्ति दशा में सर्वथा अनावृत्त होता है। 'मुझे सुख मिले' ऐसी इच्छा व कथन में जो स्वयं को सुख से पृथक् समझना और सुख को प्राप्तव्य मानना अन्तर्निहित रहता है, वह मेरा स्वरूप ऐसी उक्ति के समान ही है। ऐसे स्थलों पर सम्बन्ध व्यवहार का तात्पर्य अभिप्रेत वस्तु की अन्यनिष्ठता की व्यावृत्ति में ही होता है, अपने से अन्तर बताने में नहीं।[29]

विद्यारण्य ने पंचदशी में, आत्मनिष्ठा प्रीति का विश्लेषण करते हुए उसे सांसारिक भावों राग, श्रद्धा, भक्ति व इच्छा से भिन्न किया है, तथा सुख मात्र में रहने वाली सात्त्विकी वृत्ति कहा है। पुन: कहा कि वैषयिक सुख में अल्प प्रीति होती है, आत्मा अति प्रिय है, क्योंकि वैषयिक सुख तो अन्तत: किसी अन्य उद्देश्य का साधन होता है, पर आत्मा किसी का साधन नहीं। इसलिए वैषयिक सुख में प्रीति स्थिर नहीं, आत्मा में स्थिर है। वैषयिक सुख अपना विषय बदलता रहता है। आत्मप्रीति का विषय नहीं बदलता। इस अव्यभिचारिणी प्रीति का आस्पद होने से ही आत्मा आनन्दस्वरूप है।[30]

इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक आनन्द के अन्तर्गत ही वैष्णव भक्तिपरक आनन्द भी आता है। वैष्णव भक्तिपरक आनन्द एवं निर्गुण आनन्द का यह पक्ष विचारणीय है कि वैष्णव भक्तिपरक आनन्द में जहां रस प्रवणता है वहां वेदान्त परक आनन्द में आत्मानुभूति मात्र है। इन पक्षों के अतिरिक्त आनन्द के सम्बन्ध में उसकी उपयोगिता तथा आधुनिक दृष्टि में महत्त्व है। इसका कारण यह है कि आनन्द तत्त्व जीवन से बाहर की वस्तु नहीं अपितु यह जीवन का परम उपादेय तत्त्व है। संक्षेप में यह कहा जायेगा कि आनन्दानुभवकर्त्ता जीव स्वयं तो आनन्द का अनुभव करता ही है अपितु लोक के लिए भी आनन्द का पथ प्रशस्त करता है।

दार्शनिक दृष्टि से आनन्द के स्वरूप पर विचार

लौकिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से आनन्द के स्वरूप पर विचार किया जा चुका है। दार्शनिक दृष्टि से आनन्द के स्वरूप के सम्बन्ध में परामर्श करते समय यह कहना अपेक्षित है कि जब हम जीवन की लौकिकता एवं आध्यात्मिकता को छोड़कर जीवन के भौतिक एवं पारमार्थिक तत्त्वों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण करते हैं तो वह दार्शनिक वर्णन कहलाता है इसी प्रकार दार्शनिक आनन्द का स्वरूप भी गृहीत होता है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से आनन्द के स्वरूप का निरूपण करते समय आनन्द के अनुभवकर्त्ता तथा उसका (आनन्द का) अन्य लौकिक विषयों से सम्बन्ध भी विचारणीय होता है। इस प्रकार दार्शनिक आनन्द का स्वरूप लौकिक एवं आध्यात्मिक आनन्द की अपेक्षा अधिक विश्लेषणपरक एवं लौकिक आनन्द की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मतर है तथा आध्यात्मिक आनन्द की अपेक्षा विविध तत्त्वों से अधिक सम्बन्धित है।

ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार करने तथा उसे पहचानने का सबसे बड़ा उपाय आत्मा को पहचानना और उसका साक्षात्कार करना है। क्योंकि प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक संसार को दुःखात्मक मानते हैं। महात्मा बुद्ध ने तो अपने चार आर्य-सत्यों में दुःख को प्रथम आर्य-सत्य माना है। सांख्य की दृष्टि से संसार निरन्तर दुःखमय के आघात से पीड़ित रहता है। योग के अनुसार विचारशील प्राणी को यह सारा विश्व दुःख रूप ही प्रतीत होता है, और फलस्वरूप वह ईश्वरप्रणिधान आदि उपाय क्लेशों या दुःखों से मुक्ति के लिए बताता है। वेदान्त के अनुसार इन दुःखों का कारण अविद्या या अज्ञान ही है। अविद्या या अज्ञान के कारण ही जीव इस दुःखात्मक जगत् को सुखमय मानकर उसका उपभोग करता है। और फलस्वरूप जन्ममरण रूप दुःख सोपान परम्परा को प्राप्त होता है।

अतः ये कहा जा सकता है कि लौकिक आनन्द जहां किसी तात्विक विवेचन से असम्बद्ध रहकर मात्र आनन्दानुभव का नाम है वहां दार्शनिक आनन्द के स्वरूप का विश्लेषण करते समय आनन्द के स्वरूप के

सम्बन्ध में दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण अपेक्षित है। वह आध्यात्मिक आनन्द की अपेक्षा विविध तत्त्व सम्बन्धित इसलिए है कि जहां आध्यात्मिक आनन्द के ब्रह्मानन्द अथवा मोक्ष अनुभव का स्वरूप प्रधान एवं एकांगी है वहां आनन्द के स्वरूप का दार्शनिक विश्लेषण करते समय उसका सम्बन्ध इतर विविध तत्वों से स्वभावत: स्थापित हो जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर आनन्द तत्व का एक ऐसा सर्वोत्कृष्ट तत्व सिद्ध होता है जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं सत् स्वरूप है। किन्तु वेदान्त का यह परम तत्व आनन्द परमार्थ सत् होने के कारण न व्यावहारिक सत् है और न प्रातिभासिक सत् है। यह त्रिकालबाधित सत् है। इसके अतिरिक्त लौकिक आनन्द का अनुभव तो इन्द्रियों का विषय है। यह आनन्दतत्व सर्वथा इन्द्रियातीत है। चाहे लोक के आनन्द मिथ्या हों किन्तु वेदान्त का सर्वोत्कृष्ट आनन्द तत्त्व किसी प्रकार मिथ्या नहीं है। दार्शनिक दृष्टि से आनन्द के स्वरूप का विश्लेषण एवं विवेचन करते समय यह तथ्य विशेषरूप से विचारणीय है कि वेदान्त का आनन्दतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व इतर लौकिक विषयों की तरह प्रत्यक्षादि प्रमाण गम्य न होकर सर्वथा प्रमाणित है। यह एक स्वत: सिद्ध अनुभव है साथ ही यह लौकिक आनन्द की तरह जड़ न होकर चेतन एवं स्वत: प्रकाश स्वरूप है। इस प्रकार विचार करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि वेदान्त का आनन्द तत्त्व पृथ्वी आदि पंच तत्त्वों से विलक्षण होने के कारण अपार्थिव एवं सूक्ष्म सत् स्वरूप है। दार्शनिक दृष्टि से विवेचन करते समय आनन्द तत्त्व का सर्वोपरि सिद्ध होना भी सर्वथा स्पष्ट है।

शांकर वेदान्त में आनन्द की स्वरूप प्रतिष्ठा

यों तो आचार्य शंकर के पूर्ववर्ती दार्शनिक साहित्य में जिनमें उपनिषदें प्रमुख हैं आनन्द तत्त्व का निरूपण विषद रूप से मिलता है उदाहरण के लिए 'रसो वै स: - के द्वारा रस को आत्म-स्वरूप कहा गया है। इसी प्रकार आचार्य गौड़पाद ने गौड़पाद - कारिका के अन्तर्गत भी आनन्द का उल्लेख किया है। आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्या कारिका में 'तुरीय' तत्त्व के वर्णन में कहे गये 'शान्त', 'शिव', 'अभय विशेषणों की विवृत्ति में तुरीय

आत्मा अर्थात् ब्रह्म को सभी दुःखों की निवृत्ति में समर्थ (ईशान) कहा है। यही उसके आनन्दत्व को अभिव्यक्त करने वाला है क्योंकि स्वयं आनन्द से भिन्न कुछ भी दुःख निवारक नहीं हो सकता।[32] पुनः 'सुप्रशान्तः', 'समाधिः', 'अभयः' विशेषणों से ब्रह्म की आनन्दरूपता कही है,[33] क्योंकि भय से रहित होना सुखात्मक वस्तु में ही सम्भव है वही शान्त हो सकता है जो दुःख से स्पृष्ट न हो। किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो यह कहना समीचीन होगा कि आनन्द की स्वरूप प्रतिष्ठा आचार्य शंकर ने ही की थी। यहां यह कहना भी अनुचित न होगा कि शंकराचार्य का दर्शन ही आनन्दवाद है। इसका कारण यह है कि आचार्य ने जिस चरम लक्ष्य के रूप में जिस ब्रह्म एवं मोक्ष की प्रतिष्ठा की थी, वह आनन्द का ही स्वरूप है। इस प्रकार मैं आचार्य शंकर के अनुसार आनन्द, ब्रह्म एवं मोक्ष को पर्यायवाची कहने का साहस कर सकती हूँ। हां, यह सत्य है कि आचार्य ने आनन्दवाद के जिस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी वह सर्वथा उपनिषदों पर आधारित सिद्धान्त था। और उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है।[34]

यहां यह और कहा जा सकता है कि उपनिषदों पर आधारित शंकराचार्य के ब्रह्मवाद को ही हम सद्वाद भी कह सकते हैं। इस सद्वाद का आधार ऋग्वेद का मन्त्र 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद 1/164/46) को निश्चित रूप से कहा जा सकता है। इस प्रकार शंकराचार्य ने जिस ब्रह्मवाद एवं आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की थी वह जड़ अथवा असत् नहीं था अपितु सच्चिदानन्द स्वरूप था। शंकराचार्य के आनन्दवाद की यही कुंजिका है।

अब यह प्रश्न उठता है कि आनन्द स्वरूप जीव है अथवा ब्रह्म। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य ने इस समस्या ग्रन्थि को 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' सूत्र के अन्तर्गत सुलझाया है। 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० शा० भा० 1/1/2) सूत्र से ज्ञात होता है कि आनन्दमय शब्द का अर्थ मुख्य ब्रह्म ही अभ्यास से मानने योग्य है। 'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय' (तै० उ० 2/5) इस श्रुति में आनन्दमय परमात्मा ही है, जीव नहीं, क्योंकि आनन्द शब्द का

ब्रह्म के लिए अनेक बार अभ्यास देखा गया है। किसी बात को दृढ़ करने के लिए बार-बार दुहराने को अभ्यास कहते हैं। तैत्तिरीय तथा बृहदारण्यक आदि अनेक उपनिषदों में 'आनन्द' शब्द का ब्रह्म के अर्थ में बार-बार प्रयोग हुआ है, जैसे तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मबल्ली के छठे अनुवाक में 'आनन्दमय' का वर्णन आरम्भ करके सातवें अनुवाक में उसके लिए 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राप्याद्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति। (तै० उ० 2/7) अर्थात् वह आनन्दमय ही रसस्वरूप है, यह जीवात्मा इस रसस्वरूप परमात्मा को पाकर आनन्दयुक्त हो जाता है। यदि वह आकाश की भांति परिपूर्ण आनन्दस्वरूप परमात्मा नहीं होता तो कौन जीवित रह सकता, कौन प्राणों की क्रिया कर सकता? अतः यह परमात्मा ही सबको आनन्द प्रदान करता है। ऐसा कहा गया है तथा 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति, एतमानन्दमयात्मानमुपसंक्रामति।' (तै० उ० 2/8), आनन्दं ब्रह्मणों विद्वान् न विभेति कुतश्चन' (तै० उ० 2/9), 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० उ० 3/6), विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० उ० 3/9/28)[70] इत्यादि प्रकार से श्रुतियों में स्थान-स्थान पर 'परब्रह्म' के अर्थ में 'आनन्द' एवं आनन्दमय शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिए आनन्दमय नाम से यहां उस सर्वशक्तिमान, समस्त जगत् के परम कारण, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी, सबके आत्मस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर का ही वर्णन है, अन्य किसी का नहीं।

अन्नमयादि अमुख्य आत्मा के प्रवाह में पठित होने से आनन्दमय भी अमुख्य आत्मा है। इस दोष का परिहार करते हुए शंकर कहते हैं कि वास्तविकता ऐसी नहीं है क्योंकि आनन्दमय सबके आन्तर है 'अरून्धती न्याय' का उदाहरण देते हुए अपने को स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार अमुख्य ताराओं का अरून्धती रूप में दिखलाए जाने पर जो अन्त का तारा दिखता जाता है वह मुख्य अरून्धती होता है। इसी प्रकार अन्नमय, मनोमयादि सबके आन्तर होने से आनन्दमय ही मुख्य आत्मा है।

इसी प्रकार मुख्य आत्मा के प्रियादि में शिरस्त्वादि की कल्पना

अयुक्त है, तो यह दोष नहीं क्योंकि आनन्दमय से पूर्व एवं मनोमय के पश्चात् विज्ञानमय उपाधि से वह कल्पना उत्पन्न हुई है, स्वाभाविक नहीं है। आनन्दमय का शरीरत्व भी अन्नमयादि शरीर परम्परा से दिखलाया गया है। संसारी के समान साक्षात् शरीरत्व नहीं है। अत: आनन्दमय परमात्मा ही है।

यहां शंका होती है कि आनन्दमय शब्द में जो मयट् प्रत्यय है वह विकार अर्थ का बोधक है और परब्रह्म परमात्मा निर्विकार हैं। अत: जिस प्रकार अन्नमयादि शब्द ब्रह्म के वाचक नहीं है उसी प्रकार उन्हीं के साथ आया हुआ 'आनन्दमय' शब्द भी परब्रह्म का वाचक नहीं होना चाहिए। तो इस शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि मयट् प्रत्यय यहां प्रचुरता का बोधक है, विकार का नहीं। क्योंकि 'तत्प्रकृतवचने मयट्' इस पाणिनी सूत्र के अनुसार प्रचुरता के अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है जैसे अन्नप्रचुरयाग अन्नमय कहलाता हैं वैसे ही आनन्द प्रचुर होने से ब्रह्म आनन्दमय कहा जाता है। मनुष्य से लेकर उत्तरोत्तर स्थान में सौ गुना आनन्द है। अत: ब्रह्मानन्द निरतिशय है ऐसा निश्चित होने से ब्रह्मानन्द प्रचुर है। इस कारण प्रचुयार्थ में मयट् प्रत्यय है। अगर यह जिज्ञासा हो कि मयट् प्रत्यय विकार का बोधक भी होता है, तब यहां उसे प्रचुरता का ही बोधक क्यों माना जाए? विकारबोधक क्यों न मान लिया जाए। तो इस पर कहते हैं 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च'[35] अर्थात् उपनिषदों में ब्रह्म को उस आनन्द का हेतु बताया गया है इसलिये भी यहां मयट् प्रत्यय विकार अर्थ का बोधक नहीं है। 'एष ह्येवानन्दयाति' इस श्रुति में सब जीवों के आनन्द के प्रति ब्रह्म ही कारण कहा गया है, अत: आनन्दमय परमात्मा ही है। जो सबको आनन्द प्रदान करने वाला है वह स्वयं आनन्दघन है, वही परब्रह्म परमेश्वर है, इसलिए यहां मयट् प्रत्यय को प्रचुरता का बोधक मानना ही उचित है। मयट् प्रत्यय प्रचुरता का बोधक होने से यहां 'आनन्दमय' शब्द ब्रह्म का वाचक है इतना ही नहीं, बल्कि 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते' अर्थात् मन्त्राक्षरों में जिसका वर्णन किया गया है, उस ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया जाता है, इसलिए भी आनन्दमय ब्रह्म ही है। तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्र में सत्य, ज्ञान और

अनन्त रूप विशेषणों से जो प्रकृत ब्रह्म निर्धारित है, वह विशुद्ध आकाश स्वरूप परमधाम में रहते हुए सबके हृदय गुफा में छिपा हुआ है। जो उसको जानता है वह सबको भली भांति जानने वाले ब्रह्म के साथ समस्त भोगों का अनुभव-कर्त्ता है इस मन्त्र द्वारा ब्रह्म को यहां मन्त्रवर्णिक कहा गया है। जिस प्रकार उक्त मन्त्र में उस परब्रह्म को सबका अन्तरात्मा बताया गया है, उसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ में 'अन्योऽन्तरात्मानन्दमय' अर्थात् आनन्दमय को सबका अन्तरात्मा कहा गया है। मन्त्र और ब्राह्मण का एकार्थत्व होना युक्त है। क्योंकि उनमें विरोध नहीं है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है।

यदि आनन्दमय को जीवात्मा मान लिया जाए तो क्या हानि है इसका परिहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं 'नेतरोऽनुपपत्तेः' (ब्र० सू० शा० भा० 1/1/16) आनन्दमय शब्द से जीव का अभिधान नहीं है, क्योंकि उसमें आनन्दमयत्व की उपपत्ति नहीं है। तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में आनन्दमय का वर्णन करने के अनन्तर यह बात कही गई है कि "सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत।" 'उस आनन्दमय परमात्मा ने यह इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ। फिर उसने तप किया। तप करके समस्त जगत् की रचना की (तै० 2/6)।' यह कथन जीवात्मा के लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ और परिमित शक्ति वाला है, जगत् की रचना आदि कार्य करने की उसमें सामर्थ्य नहीं है, अतः आनन्दमय शब्द जीवात्मा का वाचक नहीं हो सकता। यही बात सिद्ध करने के लिए दूसरा हेतु बतलाते हैं - 'भेदव्यपदेशाच्च' (ब्र० सू० शा० भा० 1/1/17) अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा को एक दूसरे से भिन्न बतलाया गया है, इसलिये भी आनन्दमय शब्द जीवात्मा का वाचक नहीं हो सकता। और रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' यह श्रुति भी जीव और आनन्दमय का भेद से व्यपदेश करती है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है। यह जीवात्मा इस रसस्वरूप परमात्मा को पाकर आनन्दयुक्त हो जाता है, इस प्रकार परमात्मा को आनन्ददाता और जीवात्मा को आनन्दयुक्त होने वाला बताया गया है। इससे दोनों का भेद सिद्ध होता है। इसलिए भी आनन्दमय

शब्द जीवात्मा का वाचक नहीं है।

आनन्द का हेतु सत्वगुण त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति में भी विद्यमान है ही, इसलिए आनन्दय शब्द को प्रकृति का वाचक क्यों न मान लिया जाए इस पर कहते हैं 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' (ब्र० सू० शा० भा० 1/1/18) अर्थात् काम के श्रवण से भी अनुमान कल्पित जड़ प्रकृति को आनन्दमय शब्द से ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं। उपनिषद् में भी जहां आनन्दमय का प्रसंग आया है वहां 'सोऽकामयत' इस वाक्य के द्वारा आनन्दमय में सृष्टि विषयक कामना का होना बताया गया है जो कि जड़ प्रकृति के लिए असम्भव है। अतः उस प्रकरण में वर्णित 'आनन्दमय' शब्द से जड़ प्रकृति को नहीं ग्रहण किया जा सकता।

परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त प्रकृति या जीवात्मा कोई भी आनन्दमय शब्द से गृहीत नहीं हो सकता। इस बात को दृढ़ करते हुए प्रकरण का उपसंहार करते हैं 'अस्मिन्नस्य तद्योगं शास्ति' (ब्र० सू० शा० भा० 1/1/19) अर्थात् इस प्रकरण में इस जीवात्मा का उस आनन्दमय से संयुक्त होना बतलाया गया है। जिससे स्पष्ट होता है कि जड़ तत्त्व या जीवात्मा आनन्दमय नहीं है। तैत्तिरीय-उपनिषद्[36] में श्रुति कहती है कि जब साधक इस अदृश्य अशरीर अनिर्वाच्य और निराधार ब्रह्म में अभेद दृष्टि प्राप्त करता है तब वह अभय को प्राप्त हो जाता है, जब उस ब्रह्म में थोड़ी सी भेद दृष्टि करता है तो इसे भय प्राप्त होता है। इस वर्णित श्रुति का कथन तब संघटित हो सकता है जब आनन्दमय शब्द से परमात्मा को समझा जाए। अतः सिद्ध होता है कि आनन्दमय परमात्मा ही है।

तैत्तिरीयोपनिषद् (2/8)[37] में श्रुति कहती है कि इस आनन्दमय तत्त्व को इस प्रकार जानने वाला विद्वान् अन्नमयादि समस्त शरीरों के आत्मस्वरूप आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है बृहदारण्यक का भी कथन है कि 'कामना रहित आप्तकाम पुरुष' ब्रह्मरूप हो ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।[38] श्रुति के इन वचनों से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है, कि जड़ प्रकृति या जीवात्मा को 'आनन्दमय' नहीं माना जा सकता, क्योंकि चेतन जीवात्मा

का जड़ प्रकृति में अथवा अपने ही जैसे परतन्त्र अन्य किसी जाति में लय होना नहीं बन सकता। इसीलिए एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर ही आनन्दमय शब्द का वाच्यार्थ है और वही सम्पूर्ण जगत् का कारण है, दूसरा कोई नहीं।

अतएव 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस सूत्रस्थ आनन्दमय शब्द से लक्षणा द्वारा निर्गुण ब्रह्म का बोध कराया गया है। पूर्व पक्ष में ब्रह्म की उपासना और सिद्धान्त में निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान है।

आनन्दवाद के सम्बन्ध में किए गए अध्ययन तथा प्रस्तुत अध्ययन की विशेषताएं

यों तो जहां-जहां भारतीय दर्शन के क्षेत्र में ब्रह्मवाद का विवेचन हुआ है किसी न किसी प्रकार से आनन्दवाद की प्रतिष्ठा भी मिलती है, किन्तु आनन्दवाद के सम्बन्ध में मुझे जो विशेष अध्ययन प्राप्त हुए हैं उनमें डा० उर्मिला शर्मा-रचित 'अद्वैत वेदान्त तें तत्त्व और ज्ञान'[39] विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत विदुषी लेखिका ने उपनिषदों एवं अद्वैत वेदान्त दर्शन के विभिन्न मतानुयायियों के आनन्दवाद (आनन्द) के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत लेखिका को भी उपर्युक्त प्रस्तुति से सहायता प्राप्त हुई है।

जहां तक प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत आनन्दवादी अध्ययन का प्रश्न है इस अध्ययन की सीमाओं में संहिताएं, उपनिषदें, श्रीमद्भगवद्गीता तथा शंकराचार्य द्वारा रचित भाष्यादि ग्रन्थ आते हैं। अतः इसी साहित्य के आधार पर आनन्द का वर्णन प्रस्तुत अध्ययन का विषय है। साथ ही आनन्दवाद के सम्बन्ध में लौकिक तथा अलौकिक दोनों ही दृष्टियां हमारे प्रस्तुतिकरण के मूल में निहित रही हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अद्वैत वेदान्त की आनन्दवादी धारणा के अतिरिक्त वैष्णव भक्तिपरक आनन्दवादी दृष्टि भी यहां विचारणीय है। इसके अतिरिक्त आनन्द की लौकिक उपयोगिता के सम्बन्ध में भी इस ग्रन्थ में विचार किया जाएगा। साथ ही आधुनिक युग में आनन्दवाद की उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार करना भी यहाँ अपेक्षित है। संक्षेप में प्रस्तुतीकरण की यही दिशा है।

सन्दर्भः –

1. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० – 187
2. Sir Monier Williams, Sanskrit English Dictionary, P-331
3. V.S. Apte, Sanskrit English Dictionary, P-81
4. Carle Cappler, Sanskrit English Dictionary, P-62
5. Lights on Vedanta, P-72
6. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्योनिदिध्यासितव्यो मैत्रेयात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्व विदितम्।। बृ० उ० शा० भा० 2/4/5
7. ब्रह्मवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं व प्रसृतं ब्रह्मवेदं वरिष्ठम्।। मु० उ० 2/2/11
8. स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। मु० उ० 3/2/9
9. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।। मु० उ० 2/2/8
10. आनन्दघनरूपोऽस्मि परानन्दघनः, तेजोबिन्दूपनिषद् (4/3)
11. आनन्दं ब्रह्मणोविद्वान्न विभेति कुतश्चन, तैत्तिरीयोपनिषद् 2/4/1
12. यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।

    मृत्यो : स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।।

    मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।

    मृत्यो : स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।। कठोपनिषद् 2/1/10-11

    यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।

    अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।

    यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।

    अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।। कठोपनिषद् 2/3/14-15

13. पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

कारणे गुणसंङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु। श्रीमद्भगवद्गीता शां० भा० 13 / 21

14. आत्मा चिद्वित्सुखात्मानुभवपरिचितः सर्वदेहादियन्ता

सत्येवं मूढ़बुद्धिर्भजति ननु जनोऽनित्यदेहात्मबुद्धिम।

बाह्येऽस्थिस्नायुमज्जापलरूधिरवसाचर्ममेदोयुगन्त -

र्विण्मूत्रश्लेष्मपूर्ण स्वपरवपुरहो संविदित्वापि भूयः ।।4।।

देहस्त्रीपुत्रमित्रानुचर हयवृषास्तोषहेतुर्ममेत्थं

सर्वे स्वायुर्नयन्ति प्रथितमलममी मांसमीमांसयेह।

एते जीवन्ति येन व्यवहृतिपटवो येन सौभाग्यभाज -

स्तं प्राणाधीशमन्तर्गतममृतमं नैव मीमांसयन्ति।।5।।

कश्चित्कीटः कथंचित्पटुमतिरभितः कण्टकानां कुटीरं

कुर्वस्तेनैव साकं व्यवहृतिविधये चेष्टते यावदायुः।

तद्वज्जीवोऽपि नानाचरितसमुदितैः कर्मभिः स्थूलदेहं

निर्मायात्रैव तिष्ठन्ननुदिनममुना साकमभ्येति भूमौं।। शतश्लोकी।।4 - 5 - 6।।

15. यस्माद्यावत्प्रियं स्यादिह हि विषयतस्तावदस्मिन्प्रियत्वं

यावद्दुःखं च यस्माद्भवति खलु ततस्तावदेवाप्रियत्वम्।

नैकस्मिन्सर्वकालेऽस्त्युभयमपि कदाप्यप्रियोऽपि प्रियः

स्यात्प्रेयानप्यप्रियो वा सततमपि ततः प्रेय आत्माख्यवस्तु।।

श्रेयः प्रेयश्च लोके द्विविधमभिहितं काम्यमात्यन्तिकं च

काम्यं दुःखैकबीजं क्षणलवविरसं तच्चिकीर्षन्ति मन्दाः।

ब्रह्मैवात्यन्तिकंयन्निरतिशयसुखस्यास्पदं संश्रयन्ते।। शतश्लोकी।।9 - 10 - 11।।

यः कश्चित्सौख्यहेतोस्त्रिजगति यतते नैवदुः खस्य हेतो -

र्देहेऽहंता तदुत्था स्वविषयममता चेति दुःखास्पदे द्वे।

जानन्रोगाभिघाताद्यनुभवति यतो नित्यदेहात्मबुद्धि -

भार्यापुत्रार्थनाशे विपदमय परामेति नारातिनाशे।। शताश्लोकी।।5।।

16. अशेषदुःखाश्रयमत्र जीवनं, अद्वैतामृतसार।3।

17. श्रीमद्गवद्गीता शा० भा० 15/1

18. सांसारिकज्ञानमपारमार्थ्य

लोके प्रसिद्धं व्यवहार तथ्यम्।

भेदात्मिका धीः सविशेषचित्रा

तत्वप्रकाशे विजहाति सत्त्वम्।। अद्वैतामृतसार 2/25

19. भारतीय दर्शन, सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, पृ० - 366

20. तत्व चिन्तामणि (भाग 7) पृ० - 267

21. स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते । श्रीमद्भगवद्गीता 8/3

22. छान्दोग्योपनिषद् (सानुवाद शा० भा० सहित) 8/1 पृ० - 339

23. श्रीमद्भगवद्गीता 10/32

24. श्रीमद्भगवद्गीता - तत्व विवेचनी हिन्दी - टीका सहित 10/32

25. अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन्

अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत।। कठ० उ० 1/1/28

26. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० - 198

27. साक्षात्प्राप्ते खलु हि विदुषामात्मतत्त्वे यथार्थे

स्वारूप्येनाप्रमितगतामैक्यबुद्धिं समेत्य।

मायाकार्य्य भ्रमविजनितं द्वैतभेदांश्च हित्वा

ब्रह्मात्मैक्य चिरमनुभवन् स्वस्थ एवास्ति विद्वान्। अद्वैतामृतसार 2/59

28. न स्पृष्टः स्यात् पुनरधिगतः कर्मजन्मादिलेशैः।

पूर्ण - प्रज्ञश्चिरमपि विभू रागशून्यः प्रशान्तः।

साक्षाद् - बुद्धया समधिनयति स्वात्मदृष्ट्यैक्यसाम्यम्

आनन्दं नन्वमृतममभयं सेवमानः समन्तात्। अद्वैतामृतसार 2 / 60

29. शुभकर्मणा उपस्थापिते विषयविशेषे तदिन्द्रियसंयोगात्

जातेऽन्तःकरणवृत्तिविशेषे प्रसन्ने सति, निर्मल इवादर्शे

मुखम् अत्मैवानन्दः प्रकटीभवति। तद्विषयुसुखमिति प्रसिद्धं लोके।

इ० सि० पृ० - 28

30. न च नित्यसुखरूपत्वे मुक्तिसंसारयोरविशेषप्रसंगः,

तस्या विद्यातिमिरतिरोधानातिरोधानाभ्यां विशेषोपपत्तेः।

न चात्मनः सुखरूपत्वे सुखं मे स्यादिति प्रेमानुपपत्तिः,

सम्बन्धव्यपेदशस्यान्यनिष्टताव्यावृत्तिपरत्वात्

तत्वप्रदीपिका, पृ० - 567 - 68

31. सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रमात्मा त्वतिप्रियः।

सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी।। पंचदशी 12 / 25

32. निवृत्ते सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः।

अद्वैतः सर्वभावनां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः।। मा० का० 1/10

33. सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः।

सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः। मा० का० 3 / 37

34. सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म, तै० उ० 2 /1

35. ब्र० सू० शा० भा० 1/1/14

36. यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये ..... अथ तस्य भयं भवति। तै० उ० 2 /7

37. स य एवंविद् एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति तै० उ० 2 /8

38. बह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। (बृ० उ० 4 /4 /6)

39. प्रकाशक - छन्दस्वती प्रतिष्ठान, वाराणसी।



द्वितीय अध्याय

आनन्दवाद की पृष्ठभूमि

संहिताओं में आनन्दवाद की पृष्ठभूमि

वेद मन्त्रों के संग्रह का नाम संहिता है। संहिताएं चार हैं– ऋक्संहिता, यजु: संहिता, सामसंहिता तथा अथर्वसंहिता। इन चारों संहिताओं का संकलन क्रमश: होता, अध्वर्यु, उदगाता तथा ब्रह्मा नामक ऋत्विजों के कर्मों के लिए किया गया है। इन चारों का संकेत ऋग्वेद की ऋचा में मिलता है।[1]

वेदों में पारलौकिक आनन्द का वर्णन मिलता है। ऋग्वैदिक वर्णन के अनुसार मृत्यु के पश्चात् मानव एक ऐसे विलक्षण लोक में जाता है, जो कि सारी रमणीयताओं से भरपूर है। पवमान सोम को समर्पित एक सूक्त में कहा गया है – "हे सोम, तुम इन्द्र के लिए क्षरित होते हुए, मुझे ऐसे अविनाशी लोक की प्राप्ति कराओ जहां शाश्वत प्रकाश है। जहां सुख ही सुख हैं, जहां राजा वैवस्त हैं, जहां स्वर्ग का गुह्य स्थान है, जहां पुण्यसलिला महान् नदियां हैं, जिस सर्वोत्तम तृतीय आकाश (स्वर्ग) में इच्छानुसार अबाध गमन है, जहां के निवासी ज्योतिष्मान् हैं, जहां सभी कामनाओं की आवश्यकता अनुसार पूर्ति है, जहां सब कर्मों के मूलभूत आदित्य का सहस्थान है, जहां स्वधा है, तृप्ति है, आनन्द है, मोद एवं प्रमोद है और जहां सभी कामनाएं इच्छा होते ही पूर्ण हो जाती हैं।"[2]

ऋग्वेद में पितरों के साथ–साथ देवताओं को भी केवल आध्यात्मिक प्रकृति से युक्त नहीं माना गया, अपितु उन्हें इन्द्रिय–सुखों में लिप्त भी बताया गया है। एक मन्त्र में इन्द्र से कहा गया है – "हे इन्द्र, तुम सोम

पियो और घर जाओ। तुम्हारे घर में तुम्हारी कल्याणमयी सुन्दर पत्नी है।[3]

वैदिक स्वर्ग पुण्यात्माओं के लिए है। इसे सुकृतों का लोक कहा गया है।[4] स्वर्ग में जाने के लिए जिन पुण्य कर्मों की आवश्यकता है उनका वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है। स्वर्ग उन व्यक्तियों को मिलता है जो कठोर तपस्या करते हैं, जो वीर युद्ध में लड़ते हुए अपना शरीर त्याग देते हैं और जो प्रचुर दक्षिणा देते हैं।[5]

उपनिषदों में आत्मा अथवा बह्म का साक्षात्कार ही जीवन का चरम लक्ष्य है।[6] ब्रह्म को जानने वाला साक्षात् बह्म ही हो जाता है और इस स्थिति को पाकर फिर वह इस संसार में नहीं लौटता।[7] भारतीय दर्शन में दुःखों से सर्वथा मुक्त हो जाने को अपवर्ग, परम पुरुषार्थ, कैवल्य अथवा मोक्ष कहा गया है।[8]

जहां तक ऋग्वेद का प्रश्न है, ऋग्वेद में मोक्ष सिद्धान्त का विकसित दार्शनिक रूप दिखायी नहीं देता, फिर भी ऋषियों द्वारा देवताओं से की गई दुःख एवं बन्धनों से मुक्ति की प्रार्थनाओं में तथा पुरुष प्रजापति विश्वकर्मा एवं हिरण्यगर्भ के रूप में की कल्पनाओं में, हम इस सिद्धान्त की मूल-प्रवृत्ति के दर्शन कर सकते हैं। विष्णु की परम-पद प्राप्ति[9] की कामना में भी परम पुरुषार्थ (मोक्ष का सिद्धान्त) का बीज देखा जा सकता है। पाश से मुक्ति की प्रार्थनाएं की गई हैं। वरुण देवता से प्रायः प्रार्थना की गयी है कि वह हमें अपने पाशों से मुक्त करे।[10] एक मन्त्र में तो उत्तम, मध्यम एवं अधम, तीनों प्रकार के अंगों से पाशों अथवा बन्धनों से हटाने की प्रार्थना की गई है।[11]

ऋग्वैदिक ऋषि सम्भवतः यह जानते थे कि पाप ही दुःख एवं बन्धन के कारण हैं। इसीलिए उन्होंने पाप से मुक्त होने की प्रार्थनाएं की हैं। वरूण देवता की स्तुति करते हुए ऋषि शुनः शेष ने कहा है – "हे राजन् वरुण, मृत्यु को हमसे पराङ्मुख करके दूर भगा दो और हमारे द्वारा किये गये पाप को भी हमसे हटा दो।"[12] एक अन्य मन्त्र में ऋषि मृत्स्मद

वरूण से कहता है – "जिस प्रकार बछड़े से रस्सी को खोलकर उसे मुक्त किया जाता है, उसी प्रकार तुम मुझ से पाप बन्धन को छुड़ा दो।"[13]

ऋग्वेद में मृत्युबन्धन से छुटकारा पाने की भावना के भी दर्शन होते हैं। एक मन्त्र में इन्द्र स्वयं कहता है कि "मैं कभी मृत्यु के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ।[14] अथर्ववेद में भी मृत्यु को दूर करने तथा अमृत को प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है।[15]

मृत्यु के बन्धन से छूटने के साथ-साथ ऋग्वेद में अमृतत्व-प्राप्ति की भी कामना की गई है। एक सूक्त में सोमदेवता को सम्बोधित कर कहा गया है – "मुझे उस अमृतमय लोक में अमर्त्य बनादो जहां शाश्वत प्रकाश है, सुख है, जहां लोक ज्योतिष्मान् है और जहां आनन्द ही आनन्द है।[16] इस का उल्लेख पारलौकिक आनन्द का वर्णन करते हुए किया जा सकता है। यद्यपि यहां स्वर्गलोक का वर्णन है, फिर भी यहां प्रयुक्त अमृत पद द्वारा उपनिषद् की अमृतत्व या परम पुरुषार्थ की उस धारणा के निर्माण में सहयोग अवश्य मिला होगा जिसके अनुसार हृदय की सारी कमनाओं के सम्पन्न हो जाने पर समस्त ग्रथियों के छिन्न-भिन्न हो जाने पर मनुष्य अमृत हो जाता है और उस अवस्था में वह साक्षात् ब्रह्म को पा लेता है।[17]

उपनिषद् में कहा है कि मुक्त आत्मा शरीर से उठकर परमज्योति को प्राप्त करके अपने स्वरूप से प्रकट हो जाता है।[18] वेदान्त में इसी को स्वरूप से प्रकटीभाव कहा है।[14] उपनिषद् वेदान्त के उक्त सिद्धान्त का मूलस्रोत भी हम ऋग्वेद में देख सकते हैं। ऋग्वेद मानव शरीर में एक ऐसा तत्त्व मानता है, जो अविनाशी है। इसे आत्मा कहा जा सकता है और इस का निर्देश ऋग्वेद में विभिन्न स्थानों पर असु, जीव, प्राण, मनस् एवुं आत्मा शब्द द्वारा किया गया है।[20] ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, अदिति, ब्रह्मणस्पति एवं पुरुष की महिमा के वर्णन में परमतत्त्व के साथ तादात्म्य की दार्शनिक भावना का मूल विद्यमान है।[21] इस मूल भावना का विकास ऐतरय उपनिषद् के वर्णन – "प्रजापति इन्द्र, सारे देव, पंचमहाभूत तथा चराचर जगत् सब कुछ ब्रह्म ही है"[22] में दिखाई देता है।

परमपद अथवा परमधाम की धारणा का मूल स्त्रोत ऋग्वेद में वर्णित विष्णु के परमपद में देखा जा सकता है। विष्णु के लोक की कामना करता हुआ ऋषि दीर्घात्मा कहता है, मैं विष्णु के उस प्रिय स्थान को प्राप्त करूं जहां देवता को प्राप्त करने की इच्छा वाले लोग आनन्दित रहते हैं। विशाल डगों वाले विष्णु के परमपद में मधु का स्त्रोत है, इस प्रकार वह सबका बन्धु है।[23] सायण ने इस मन्त्र के भाष्य में विष्णु के ''प्रियं पाथ:' को ''अविनश्वरं ब्रह्मलोकम्'' कहा है और उसके परमपद के विषय में बताया है कि वह केवल सुखात्मक है, जहां भूख-प्यास, जरा-मरण एवं पुनरावृत्ति आदि का भय नहीं है तथा जहां संकल्प मात्र से ही अमृतकुल्यादि भोग प्राप्त हो जाते हैं।[24] गीता में संभवत: इसी को परमधाम कहा गया है।[25]

परमतत्त्व से अभिप्राय आत्मा और ब्रह्म से है। आत्मन् शब्द से परमतत्त्व का संकेत अथर्ववेद के ब्रह्मसूक्त से होता है जिसमें कहा है- वह अकाम, धीर, अमृत, स्वयंभू और रस से तृप्त है, उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। उसी धीर, अजर तथा युवा आत्मा के ज्ञाता मृत्यु से नहीं डरते।[26]

ब्रह्म शब्द से परमतत्त्व का बोध भी अथर्ववेद में कराया गया है। वहां बह्म के लिए ज्येष्ठ विशेषण का प्रयोग किया गया है- ''जो भूत, भविष्य एवं सबका अधिष्ठाता और जिसका केवल मात्र सुख एवं आनन्द ही स्वरूप है उस ज्येष्ठ ब्रह्म को प्रणाम है।''[27] ऋग्वेद में आत्मा का आनन्ददायक के अर्थ में अग्निदेवता के लिए होना कहा गया है- वह आत्मा की भांति आनन्द दायक तथा सबके द्वारा धारण करने योग्य होवे।[28] सायण ने इस मन्त्र में आत्मेव का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए लिखा है-आत्मेव परमप्रेमास्पदतया निरतिशयानन्दस्वरूप: आत्मा यथा सर्वान् सुखयति।[29] ग्रिफिथ ने आत्मेव शैव:'' का अर्थ श्वास की भांति आनन्ददायक किया है।[30] इस प्रकार उक्त मन्त्र के द्वारा आत्मा के आनन्दस्वरूप होने का संकेत ग्रहण किया जा सकता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि संहिताओं में मोक्ष का सैद्धान्तिक निरूपण एवं व्याख्या तो नहीं मिलती किन्तु आनन्दस्वरूप मोक्ष के पुष्ट बीज अवश्य मिलते हैं। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि ऋग्वैदिक ऋषि के जीवन का चरम उद्देश्य मोक्ष ही था।

उपनिषदों में आनन्दवाद का स्वरूप

वेद का अन्तिम भाग उपनिषद् है। इन ग्रन्थों में वैदिक ऋषियों ने ब्रह्म के स्वरूप जीव तथा जगत् के साथ उसका वास्तविक सम्बन्ध, आत्मा की सर्वात्मकता, सत्-चित-आनन्द रूप आत्मा की एकरसरूपता का अनुभव कराना आदि आध्यात्मिक विद्या के गूढ़तम रहस्यों को विशद विवेचन किया है। उपनिषद् वास्तव में आध्यात्मिक मानसरोवर हैं। जिनसे भिन्न-भिन्न ज्ञान सरिताएं निकलकर मानवमात्र के सांसारिक अभ्युदय तथा पारलौकिक कल्याण साधन के लिए प्रवाहित होती है।

आचार्य शंकर[31] के अनुसार उपनिषद् का अर्थ ब्रह्म-विद्या है, क्योंकि वह संसार का अत्यन्त उच्छेद करती है और जिन ग्रन्थों का प्रयोजन ब्रह्म विद्या है, उनको भी उपनिषद् कहा जाता है। अतः उनके अनुसार उपनिषद् का वाच्यार्थ ब्रह्मविद्या है और लक्ष्यार्थ ब्रह्मविद्या विषयक ग्रन्थ। अन्यत्र[32] शंकराचार्य ने उपनिषद् शब्द की निरूक्ति देते हुए कहा है कि उप और नि उपसर्ग के साथ सद् धातु में क्विप प्रत्यय लगाकर उपनिषद् शब्द बनता है। सद् धातु के तीन अर्थ हैं - नाश करना, ले जाना और शिथिल करना। जो विद्या विद्यार्थी को ब्रह्म के पास ले जाती है, संसार बीज का विनाश करती है और पुनर्जन्म कराने वाले कर्मों को शिथिल करती है, वह उपनिषद् है। फिर वहीं शंकराचार्य यह भी कहते हैं कि उपनिषद् के ये लक्षण किसी ग्रन्थ में सम्भव नहीं है, इसलिए अभिधा वृत्ति से उपनिषद् का अर्थ ब्रह्मविद्या ही है, कारण, ब्रह्मविद्या में उपनिषद् के ये तीनों लक्षण मिलते हैं। फिर उनका कहना है कि लक्षणा वृत्ति के द्वारा जिस ग्रन्थ में ब्रह्मविद्या का वर्णन रहता है उसको भी उपनिषद् कहा जाता है। शंकराचार्य के इस मत को उनके शिष्य सुरेश्वर ने अच्छे शब्दों में अभिव्यक्त किया है।[33]

उपनिषदों में दो स्पष्ट विचारधाराओं के दर्शन मिलते हैं। एक ही उपनिषद् एक जगह तो श्रेय का समर्थन करता है और दूसरी जगह वही प्रेय का वरण करता है। छान्दोग्य, बृहदारण्यक और मुण्डक आदि उपनिषदों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। वेदान्त की परिभाषा में श्रेय को विद्या और प्रेय को अविद्या कहा गया है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि श्रेय और प्रेय ये दोनों परस्पर विरूद्ध हैं। श्रेय से निवृत्ति और निवृत्ति से मोक्ष होता है अर्थात् जो श्रेय रूप लक्ष्य को ग्रहण करता है और तदनुकूल साधनों का अनुष्ठान करता है उसका कल्याण होता है। प्रेय से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से जन्म मरण होता हे। धन-सम्पदा आदि भौतिक सुख प्रेय के अन्तर्गत है तथा भौतिक सुखों का त्याग और परलोक चिन्तनादि श्रेय में रहता है।[34]

अद्धैत वेदान्त के शिरोमणि आचार्य शंकर बह्मवाद एवं आनन्दवाद के परम प्रस्थापक आचार्य है। उन्होंने ब्रह्म को सत्, चित् तथा आनन्द स्वरूप कहा है। उपनिषदों पर भगवान् शंकर ने बहुत ही विचारपूर्ण एवं युक्ति युक्त भाष्य लिखे हैं। उन पर भाष्य लिखकर उन्होंने अद्धैत का ही प्रतिपादन किया है। उनकी भाषा में आनन्द एवं बह्म एक प्रकार से पर्यायवाची हैं। यह ब्रह्मानन्द क्या है, इसका शंका समाधान सहित विषद विवेचन उपनिषदों में पाया जाता है। जीवन में आनन्द का स्थान सर्वोपरि स्वीकृत किया गया है।

तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य में बहुधा आनन्द का विवेचन हुआ है। कहा गया है कि आनन्द ही ब्रह्म है। ये आनन्दमय परमात्मा ही अन्नमयादि सबके अन्तरात्मा हैं। वे सब भी इन्हीं के स्थूल रूप हैं। आनन्द से ही अखिल भूतों की उत्पत्ति होती है। आनन्दमय के आनन्द का लेश पाकर ही ये सब प्राणी जी रहे हैं, कोई भी दुःख के साथ जीवित रहना नहीं चाहता। इतना ही नहीं उन आनन्दमय सर्वान्तर्यामी परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति की प्रेरणा से ही इस जगत् के समस्त प्राणियों की सारी चेष्टाएं हो रही हैं, सबके जीवनाधार वे आनन्दस्वरूप परमात्मा ही हैं, अन्त में आनन्द में ही उनका पर्यवसान भी हो जाता है।[35] इस श्रुति के शांकर भाष्य में बतलाया गया है कि जो ब्रह्म को जानने की इच्छा वाला है, उसे साधन रूप से बाह्य इन्द्रिय और

अन्तःकरण का समाधान रूप परम तप ही करना चाहिए। यह विद्या अन्नमय से प्रारम्भ हुई, परमाकाश में हृदयाकाशस्थित गुहा के भीतर अद्धैत परमानन्द में प्रतिष्ठित है, वहीं इसका पर्यवसान होता है। इसी प्रकार जो दूसरा पुरुष भी इसी क्रम से तप रूप साधन के द्वारा क्रमशः अनुप्रवेश करके आनन्द को ब्रह्म रूप से जानता है, वह इस प्रकार विद्या में स्थिति लाभ करने पर ब्रह्म में अर्थात् आनन्द में स्थिति प्राप्त करता है, यानी ब्रह्म ही हो जाता है। ''आनन्द इति परं ब्रह्म[36]'' इस शांकर भाष्य में भी उल्लिखित है कि ''आनन्द'' यह परब्रह्म का ही वाचक है। वही शुभ कर्म द्वारा पुत्र-मित्रादि विशेष विषय ही जिसकी उपाधि है, उस सुप्रसन्न अन्तःकरण की वृत्ति विशेष में, जब कि वह तमोगुण से आच्छादित नहीं होता, अभिव्यक्त होता है, वह लोक में विषय सुख नाम से प्रसिद्ध है। उस वृत्ति विशेष को प्रस्तुत करने वाले कर्म के अस्थिर होने के कारण उस सुख की क्षणिकता है। इसलिए जिस समय अन्तःकरण तमोगुण को नष्ट करने वाले तप, उपासना, ब्रह्मचर्य, और श्रद्धा के द्वारा जितना-जितना निर्मलता को प्राप्त होता है, उतने-उतने ही स्वच्छ और प्रसन्न हुए, उस अन्तःकरण में विशेष आनन्द का उत्कर्ष होता है अर्थात् वह बहुत बढ़ जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् मे कहा गया है कि पहले यह जगत् असत अर्थात् अव्याकृत ब्रह्म रूप ही था। परमात्मा ने अपने को स्वयं ही इस जड़ चेतनात्मक जगत् के रूप में बनाया। इसलिए उनका नाम सुकृत है। वह जो प्रसिद्ध सुकृत है निश्चय से रस ही है।[37] इस रस को पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है।[38] अर्थात् वे परब्रह्म परमात्मा रसस्वरूप है। यह ही वास्तविक आनन्द है क्योंकि उस रस की प्राप्ति होने पर यह जीव रसमय आनन्दमय हो जाता है। उस रस के लेश से ही सारा संसार सजीव देखा जाता है। शंकराचार्य जी ने अपने भाष्य में कहा है- खट्टा-मीठा आदि तृप्तिदायक और आनन्दप्रद पदार्थ लोक में रस नाम से प्रसिद्ध है ही। इस रस को ही पाकर पुरुष आनन्दी अर्थात् सुखी हो जाता है। लोक में किसी असत् पदार्थ की आनन्द हेतुता कभी नहीं देखी गयी। ब्रह्मनिष्ठ निरीह और निरपेक्ष विद्वान् बाह्य सुख के साधन से रहित

होने पर भी, बाह्य रस के लाभ से आनन्दित होने के समान ही आनन्दुयुक्त देखे जाते हैं। रस के समान उनके आनन्द का कारण रूप वह ब्रह्म ही है। इसलिए यदेषाकाशानन्दो न स्यात्[39]'' श्रुति कहती है, यदि परमाकाश अर्थात् बुद्धि रूप गुहा में छिपा हुआ, यह आनन्द न होता, तो लोक में कौन अपान क्रिया करता और कौन प्राणन कर सकता, इसलिए यह ब्रह्म ही है, जिसके लिए शरीर और इन्द्रिय की प्राणन आदि चेष्टाएं हो रही हैं। उसी का किया हुआ लोक का आनन्द भी है। परमात्मा ही लोक को उसके धर्मानुसार आनन्दित अर्थात् सुखी करता है। 'तच्चभयकारणम् आनन्दं ब्रह्म''[40] अर्थात् उनके भय का कारण ब्रह्म आनन्द स्वरूप है क्योंकि उस परब्रह्म के भय से ही पवन नियमानुसार चलता है। इसी के भय से सूर्य उचित समय पर उदय और अस्त होता है तथा इसी के भय से अग्नि, इन्द्र और पांचवां मृत्यु- ये सब अपना-अपना कार्य सुव्यवस्थित रूप से कर रहे हैं, यह बात उनका कोई शासक होने पर ही सम्भव है। इससे सिद्ध होता है कि उन सबको बनाने वाला, सबको यथायोग्य नियम में रखने वाला कोई एक सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप परब्रह्म है। ''सैषानन्दस्य मीमाँसा''[41] इस श्रुति में उन आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का वह आनन्द कितना और कैसा है, इसकी मीमांसा की गई है। ''क्या वह आनन्द लौकिक सुख की भांति विषय और विषय को ग्रहण करने वाले के सम्बन्ध से होने वाला है अथवा स्वाभाविक ही है? तो कहा गया है कि लौकिक आनन्द भी ब्रह्मानन्द का ही अंश है। अविद्या से विज्ञान के तिरस्कृत हो जाने पर और अविद्या का उत्कर्ष होने पर कर्मवश विषयादि साधनों के सम्बन्ध से ब्रह्म आदि जीवों द्वारा अपने-अपने विज्ञानानुसार भावना किए जाने के कारण ही वह लोक में अस्थिर और लौकिक आनन्द हो जाता है। कामनाओं से पराभूत न होने वाले विद्वान् श्रोत्रिय को प्रत्यक्ष अनुभव होने वाला वह ब्रह्मानन्द ही मनुष्य, गन्धर्व आदि आगे-आगे की भूमियों में हिरण्यगर्भ पर्यन्त अविद्या कामना और कर्म का ह्रास होने से उत्तरोत्तर सौ-सौ गुने उत्कर्ष से आविर्भूत होता है। तथा विद्या द्वारा अविद्याजनित विषय-विषयि विभाग के निवृत्त हो जाने पर वह

स्वाभाविक परिपूर्ण एक और अद्धैत आनन्द हो जाता है। यहां मनुष्य, मनुष्यगन्धर्व, देवगन्धर्व, पितृगण, आजानजदेव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, वृहस्पति, प्रजापति और ब्रह्मा- इन सबकी एक से दूसरे आनन्द की अधिकता का वर्णन करते-करते सबसे बढ़कर हिरण्यगर्भ के आनन्द को बताकर यह भाव दिखाया गया है कि इस जगत् में जितने प्रकार के जो-जो आनन्द देखने, सुनने तथा समझने में आ सकते हैं, वे चाहे कितने ही बड़े क्यों न हों उस पूर्णानन्द स्वरूप परमात्मा की अपेक्षा बहुत ही तुच्छ हैं। अतः तैतिरीयोपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूपभूत आनन्द के विवेचन में उसे विषयानन्द से पृथक् करके उत्कृष्ट परमस्तर कहा गया है। आनन्द का स्वरूप लोक-प्रसिद्ध सुख के दृष्टान्त एवं तुलना द्वारा ही समझाते हुए लौकिक सुख की सीमाओं से रहित परमानन्द को परमात्मा से अभिन्न, परिपूर्ण, स्वाभाविक (किसी कारण से उत्पन्न न होने के कारण) अनादि, नित्य बताया गया है। उस परब्रह्म आनन्द का ही प्रतिबिम्ब या आभास लौकिक आनन्द-रूप में प्रकट होता है। बृहदारण्यक-भाष्य में भी आनन्द की भली भांति विवेचना हुई है। विज्ञान को आनन्द से अभिन्न रूप से ब्रह्म का स्वरूप कहा गया है। यह स्वरूपभूत विज्ञान विषय विज्ञान की भांति दुःखानुविद्ध नहीं , प्रत्युत प्रसन्न, शिव, अतुल, अनायास, नित्यातृप्त और एक रस है।[42] वहां यह भी विचार किया गया है कि लोक में प्रसिद्ध सुखवाचक आनन्द शब्द का ब्रह्म के विशेषण-रूप होने में अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर है या नहीं? और मोक्षादि अवस्था में भी जो आत्मानन्द संवेद्य होता है ब्रह्म का स्वरूप भूत आनन्द उससे भी भिन्न ही है, और कारक विभाग के अभाव में क्रिया रूप विज्ञान भी नहीं हो सकता, इसलिए स्वरूपभूत विज्ञान भी भिन्न ही है। इस प्रकार विचार करते हुए, ब्रह्म के समानाधिकरण आनन्द का स्वरूप लोक-प्रसिद्ध संवेद्य सुख-मात्र नहीं, असवेद्य निरतिशायी आनन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है, ऐसा निर्णय विस्तार से विचार करने के बाद किया गया है।[43]

परिपूर्णता, निरतिशयता आनन्द का अनिवार्य लक्षण है, इसका छान्दग्योश्रुति के 'यो वै भूमा तत्सुखम्'' के व्याख्यान में भी निरूपण किया

गया है। उपपत्ति है ''निश्चय जो भूमा है वही सुख है'', महान्, निरतिशय और बहु भूमा के पयार्य हैं। उससे नीचे के पदार्थ सातिशय होने के कारण अल्प हैं, इसलिए उस अल्प में तृष्णा का हेतु होने के कारण सुख नहीं, तृष्णा तो दुःख का बीज है। तथा लोक में दुःख के बीजभूत ज्वरादि सुखरूप नहीं देखे गए, अतः अल्प में सुख नहीं है। भूमा ही सुख रूप है क्योंकि भूमा में दुःख के बीजभूत तृष्णादि का होना सम्भव नहीं है।[44]

उस भूमा का लक्षण करते हुए श्रुति में ही उसे कारक-विभाग-युक्त दर्शन-श्रवण-विज्ञान आदि से रहित अभेद रूप बताया है; जहां तक अन्य की सम्भावना है, द्रष्टा-दृश्य का भी विभाजन है, वहां तक अल्पता कही है और अल्पता का दुःखबीज होना ही कहा गया है। अतः वास्तविक सुख का स्वरूप अभेदात्मक ब्रह्म ही है। और वह अपने आप में ही प्रतिष्ठित है - ऐसे कहते हुए ब्रह्म के स्वरूपभूत सुख या आनन्द की स्वसंवेद्यता अथवा अन्यासंवेद्यता कही गई। फिर वही नीचे, ऊपर, पीछे, आगे सभी दिशाओं में है', ऐसा कहते हुए उसकी परिपूर्णता कही गई। फिर उसी क्रम में 'यह सब भी वही है' तथा अहङ्कारादेश (मैं ही नीचे, मैं ही ऊपर) कहकर अनुभाव्य, अनुभाविता एवं परमतत्त्व का अभेद दिखाकर आनन्द का आत्मस्वरूप होना विवृत किया गया है।[45] अतः उपनिषदों में ब्रह्म को सत् और चित् के साथ-साथ आनन्द अर्थात् सभी सुखों का मूल स्रोत भी माना गया है। समस्त सांसारिक आनन्द ब्रह्मानन्द के ही क्षुद्रकण हैं जिस प्रकार समस्त सांसारिक विषय उसी सत्ता के सीमित अंश हैं।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में आनन्दवादी धारणा

यहां यह कहना आवश्यक होगा कि शंकर वेदान्त के अन्तर्गत आनन्द एवं मोक्ष पृथक्-पृथक् न होकर अपर पयार्य हैं। इतना ही नहीं ब्रह्म जो सच्चिदानन्द स्वरूप है, मोक्ष स्वरूप ही हैं। इसीलिए शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्तर्गत "ब्रह्मैव मुक्तावस्था" कहकर ब्रह्म एवं मुक्ति को समान स्थिति वाला कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्म, मोक्ष एवं ब्रह्मानन्द ये तीनों पृथक्- पृथक् न होकर एक ही हैं तथा

यह स्थिति अनुभव की स्थिति है। जहां तक गीता का प्रश्न है, श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत भी उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुरूप ही आनन्दवाद की धारणा को स्पष्ट किया गया है। वास्तविकता तो यह है कि जब तत्त्वज्ञानी साधक शांकर वेदान्त के अनुसार मोक्ष की स्थिति को प्राप्त करता है, तो उस स्थिति में वह व्यष्टि से ऊपर उठकर समष्टि रूप को प्राप्त करता है। एवंच "सर्व खल्विदं ब्रह्म" की स्थिति का अनुभव करते हुए ब्रह्मलीन होता हुआ जीव मुक्तावस्था में भी परमानन्द का अनुभव करता है। संक्षेप में शांकर वेदान्त के मोक्ष एवं आनन्दवाद का यही मूल मन्त्र है। जहां तक श्रीमद्भगवद्गीता का प्रश्न है, उसके अन्तर्गत भी स्थितधी मुनि की परिभाषा देते हुए उसे जो "वीतरागभयक्रोध:"[46] कहा है वह भी समष्टि की ही स्थिति है। यही वह स्थिति है जो 'सर्व खल्विदं ब्रह्म'[47] के द्वारा स्पष्ट होती है। वेदान्त के अनुसार जिसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है उसका सम्बन्ध अज्ञान लोक से नहीं रहता। वह तत्त्वज्ञानी तो जब तक जीवन रहता है, तब तक जीवन्मुक्त रहते हुए शाश्वत रूप से ब्रह्मानुभव करता है। किन्तु जब उसके प्रारब्ध कर्मों का भोग पूर्णतया मुक्त हो जाता है तो ऐसे ज्ञानी का शरीर-त्याग हो जाता है एवं वह विदेहमुक्ति की स्थिति को प्राप्त करता है "न च पुनरावर्तते"[48] "विमुक्तश्च विमुच्यते।"[49] श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत भी इस विचार की पुष्टि हमें उस समय मिलती है जब भगवान् श्री कृष्ण यह कहते हैं कि जहां जाकर मनुष्य नहीं लौटते वहीं मेरे परमधाम को प्राप्त करता है।[50]

श्रीमद्भगवद्गीता के सम्बन्ध में यह कथन उपयुक्त होगा कि इसमें वेदान्त का सार निहित है। इसमें अध्यात्मवाद एवं भौतिकवाद दोनों ही का समन्वय है। इससे मनुष्य को प्रेरणा मिलती है कि वह सच्चा कर्मयोगी और परम पुरुषार्थी बने। जिसमें वह जीवन के वास्तविक आनन्द और सांसारिक पूर्णत्व को प्राप्त करने में समर्थ हो। श्रीमद्भगवद्गीता में सुख शब्द से अभिप्राय आह्लाद से है।[51] सुख अनुकूल प्रसन्नता रूप और सात्विक है।[52] अर्थात् अनुकूल के संयोग और प्रतिकूल के वियोग से होने वाली प्रसन्नता का नाम सुख है। सुख चित्त की आनन्दमयी वृत्ति का नाम है। सुख शब्द

गीता में आध्यात्मिक आनन्द के अतिरिक्त लौकिक आनन्द के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। परन्तु लौकिक आनन्द अस्थायी और अनित्य है। परमानन्द ब्रह्म-साक्षात्कार में ही है। ब्रह्म-साक्षात्कार से ही मोक्ष की प्राप्ति होगी। मोक्ष का साधन ज्ञान है। गीता में ज्ञान को मोक्ष का कारण स्वीकार किया गया है।[53]

श्रीमद्भगवद्गीता में तीन प्रकार के सुख का उल्लेख हुआ है[54] - सात्विक, राजस और तामस। सात्विक सुख के लक्षणों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि जिस सुख में मनुष्य अभ्यास से रमता है अर्थात् जिस सुख के अनुभव करने से मनुष्य को प्रेम हुआ करता है, जहां मनुष्य दु:खों का अन्त पाता है, जो ऐसा सुख है, वह पहले तो ज्ञान, वैराग्य, ध्यान और समाधि के आरम्भ काल में विष के समान दु:खात्मक होता है, परन्तु परिणामत: वह ज्ञान वैराग्यादि के परिपाक से उत्पन्न हुआ सुख अमृत के सदृश है। वह आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ सुख विद्वानों द्वारा सात्विक बतलाया गया है। अपनी बुद्धि का नाम आत्मबुद्धि है। उस का जल की भाँति स्वच्छ निर्मल हो जाना आत्मबुद्धि प्रसाद है। उससे उत्पन्न हुआ सुख आत्मबुद्धि प्रसादजन्य सुख है। अथवा आत्मा को अवलम्बन करने वाली बुद्धि का नाम आत्मबुद्धि है, उसके प्रसाद की अधिकता से उत्पन्न सुख आत्मबुद्धि प्रसाद से उत्पन्न है। इसीलिए वह सात्विक है।[55] विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न सुख प्रथम क्षण में अमृत सदृश होता है और परिणाम में विष के समान है। अभिप्राय यह है कि बल, वीर्य, रूप, बुद्धि, मेधा, धन और उत्साह की हानि का कारण होने से तथा अधर्म और उससे उत्पन्न नरकादि का हेतु होने से वह परिणाम में अपने उपभोग का अन्त होने के पश्चात् विष के समान होता है। अत: ऐसा सुखराजस माना गया है।

जो सुख आरम्भ में और परिणाम में भी अर्थात् उपभोग के पीछे भी आत्मा को मोहित करने वाला होता है तथा निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ है अर्थात् जो निद्रा, आलस्य और प्रमाद इन तीनों से उत्पन्न होता है, वह सुख तामस कहा गया है।[56]

अत: सात्विक सुख ही उत्तम सुख है जिस सुख में रमण करने वाला मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और अधिभौतिक सब प्रकार के दुःखों से सदा के लिए छूट जाता है। राजस और तामस सुख वास्तव में सुख ही नहीं है। वे तो नाममात्र के ही सुख है। परिणाम में दु:खरूप ही है।

इस चराचर जगत् में जो कुछ प्रतीत होता है, सब ब्रह्म है, कोई भी वस्तु सच्चिदानन्दघन् परमात्मा से पृथक् नहीं है। कर्म, कर्म के साधन एवं उपकरण तथा स्वयं कर्त्ता सब कुछ ब्रह्म ही है।[57] जीव लोक में अर्थात् संसार में जो जीवरूप शक्ति कर्त्ता, भोक्ता, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है, वह सब परमात्मा के ही सनातन अंश है।[58] ब्रह्म ही अमृत-अविनाश, अव्यय-निर्विकार, शाश्वत-नित्य, धर्मस्वरूप-ज्ञानयोगरूप धर्म द्वारा प्राप्तव्य और ऐकान्तिक सुख स्वरूप अर्थात् व्यभिचार रहित आनन्दमय है।[59] गीता में निष्काम कर्म करने को कहा है। जो अहंकार से रहित हो कर्म करता है, उसे संसार के सर्व दु:खों की निवृत्ति रूप मोक्ष नामक परम शान्ति मिलती है।[60] वही यथार्थ पण्डित है।[61] वही वस्तुत: संन्यासी है। वह कर्मजन्य बन्धन को प्राप्त नहीं होता।[62] वह सभी पापों से मुक्त रहता है।[63] इस प्रकार के कर्म करने से ही अन्त:करण की शुद्धि होती है।[64] वही योग की सिद्धि को प्राप्त करता है।[65] और वही सात्विक कर्म करने वाला होता है।[66] इसलिए जो कर्म किया जाए, उसके फल की कभी भी इच्छा नहीं करनी चाहिए। वह कर्म केवल कर्त्तव्य की बुद्धि की इच्छा से ही करना चाहिए।[67] अत: मानव शरीर सत्व, रजस और तमस से बना हुआ है जब तक मनुष्य के शरीर में रजोगुण रहेगा, मनुष्य को कर्म करना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अपने कल्याण के लिए तथा लौकिक एवं पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति के लिए मनुष्य को सदैव निष्काम भावना से एवं कर्त्तव्य बुद्धि से ही सभी कर्म करने चाहिए। जब तक तृष्णा है, सुख की गन्धमात्र भी प्राप्त नहीं होती, क्योंकि विषय सेवन सम्बन्धी तृष्णा से जो इन्द्रियों का निवृत्त होना है, वही सुख है, विषय सम्बन्धी तृष्णा सुख नहीं, वह तो दु:ख ही है।[68] संशयात्मा को अर्थात् जिसके चित्त में संशय है उस पुरुष को न तो साधारण मनुष्य लोक मिलता

है, न परलोक मिलता है, और न सुख ही मिलता है।[69]

जिसका अन्तःकरण बाह्य स्पर्शों से आसक्त नहीं है वह विषय प्रीति से रहित पुरुष ऐसे सुख को प्राप्त करता है जो अपने भीतर है। अतः ब्रह्मयोग में जिसका अन्तःकरण अच्छी प्रकार समाहित है, ऐसा पुरुष अक्षय सुख का अनुभव करता है।[70] अतः अक्षय सुख चाहने वाले पुरुष को क्षणिक बाह्य विषयों की प्रीति से इन्द्रियों को हटा लेना चाहिए। क्योंकि विषय और इन्द्रियों से उत्पन्न भोग तो अविद्याजन्य होने से केवल दुःख के ही कारण है, क्योंकि आध्यात्मिक आदि तीनों प्रकार के दुःख उसी के कारण होते देखे जाते हैं। ये जैसे इस लोक में दुःख प्रदान करने वाले हैं, वैसे ही परलोक में भी दुःखद हैं। संसार में सुख की गन्धमात्र भी नहीं है। इस प्रकार मानते हुए विषय रूप मृगतृष्णा से इन्द्रियों को हटा लेना चाहिए। विषय भोग केवल दुःख के ही कारण नहीं बल्कि ये आदि अन्त वाले भी हैं। विषय इन्द्रियों का संयोग होना भोगों का आदि है और वियोग होना ही अन्त है। इसलिए जो आदि अन्त वाले हैं, वे केवल बीच के क्षण में ही प्रतीति वाले होने से अनित्य हैं। पुरुषार्थ तत्त्व को जानने वाला विवेकशील पुरुष उन भोगों में नहीं रमता। क्योंकि अत्यन्त मूढ़ पुरुषों की ही पशु आदि की भान्ति विषयों में प्रीति देखी जाती है।[71]

जो मनुष्य जीवितावस्था में ही शरीर छूटने से पहले-पहले काम-क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन करने की क्षमता रखता है, वही युक्त और सुखी है।[72] अतः इस संसार में वही योगी और सुखी है, जो काम-क्रोध के वेग को सहन कर सकता है, निष्काम भाव से कर्म करता है, विषयों के प्रति लालसा नहीं है, संशय रहित है।

जो सुख अत्यन्त अर्थात् अन्त से रहित अनन्त है, जो इन्द्रियों की कुछ भी अपेक्षा न करके केवल बुद्धि से ही ग्रहण किया जाने योग्य है, जो इन्द्रियों की पहुंच से अतीत है अर्थात् जो विषय से उत्पन्न होने वाला सुख नहीं हैं, ऐसे सुख को योगी उस समय अनुभव करता है, जिस काल में अपने स्वरूप में स्थित हुआ ज्ञानी वास्तविक स्वरूप से विचलित नहीं होता।[73]

जिसका मन भली-भांति शान्त है, जिसका मोहादि क्लेश रूप रजोगुण शान्त हो गया है, जो बाह्यरूप जीवन्मुक्त अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्म ही है, ऐसा निश्चय वाला है एवं जो अधर्मादि दोषों से रहित है, उस योगी को निरतिशय उत्तम सुख प्राप्त होता है।[74]

अतः जो कुछ दृश्य वर्ग है, उसे माया से युक्त, क्षणिक एवं नाशवान मानते हुए सबका अभाव करके केवल उन सबके अधिष्ठाता एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है और कुछ भी नहीं है, ऐसा समझते हुए मनबुद्धि को भी ब्रह्म में तद्रूप कर देना एवं परमात्मा में एकीभाव से स्थित होकर उनके अपरोक्षज्ञान द्वारा उनमें एकता प्राप्त कर लेना।[75] चर-अचर सब ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ, इसलिए सब मेरा ही स्वरूप है, ऐसा विचार करते हुए सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को अपनी आत्मा ही मानना। इस प्रकार साधन करने वाले की दृष्टि में एक ब्रह्म के इलावा अन्य कुछ भी नहीं रहता, वह फिर उस विज्ञानानन्दघन स्वरूप में ही आनन्द का अनुभव करता है।[76]

मायामय और तीनों गुणों के कार्य रूप दृश्यवर्ग को और इससे होने वाली समस्त क्रियाओं को अपने से भिन्न नाशवान और अनित्य मानना तथा इन सबका अभाव करके केवल भावरूप आत्मा का ही अनुभव करना,[77] ऐसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए परमेश्वर ने गीता में अनेक युक्तियों के माध्यम से साधक को पुनः-पुनः समझाया है कि आत्मा द्रष्टा, साक्षी, चेतन और नित्य है और यह देहादि-जड़ दृश्यवर्ग अनित्य होने से असत् है केवल आत्मा ही सत् है। इसी को प्रमाणित करने के लिए भगवान् ने दूसरे अध्याय के 11वें से 30वें श्लोक तक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निराकार, निर्विकार, अक्रिय, गुणातीत आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है। अभेद रूप से साधन करने वाले पुरुषों को आत्मा का स्वरूप इस प्रकार मानते हुए साधन करने से आत्मा का साक्षात्कार होता है। जो कुछ चेष्टा हो रही है, गुणों की ही गुणों में हो रही है, आत्मा का उससे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। न वह कुछ करता है और न करवाता है, ऐसा समझ कर वह नित्य निरन्तर अपने आप में ही अत्यन्त आनन्द का अनुभव करता है।[78]

अत: श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार इस जगत् में जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही सच्चिदानन्दघन स्वरूप है। संसार के सम्पूर्ण पदार्थ माया के कार्य होने से सर्वथा अनित्य है और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभाव से परिपूर्ण है।

श्रीमद्भागवत पुराण और आनन्दवाद

वेदान्त के क्षेत्र में जो स्थान ज्ञान का है, वैष्णव दर्शन के क्षेत्र में वही स्थान भक्ति का भी है। यदि ज्ञान का लक्ष्य मोक्ष है, तो भक्ति का उद्देश्य मुक्ति लाभ करना है। यह बात दूसरी है कि भक्त की मुक्ति सालोक्य, सम्मोद, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य के रूप में अद्वैतवादियों के मोक्ष से भिन्न है, दोनों में यह अन्तर भी द्रष्टव्य है कि जहां अद्वैतवादियों का प्राप्तव्य गुणातीत ब्रह्म है, वहां भक्तों का उपास्य सगुण एवं साकार है। जहां तक भक्ति का प्रश्न है, ईश्वर में परानुरक्ति का नाम ही भक्ति है।[79] भक्त के लिए अपने भगवान् से अतिरिक्त कोई वस्तु सत्य प्रतीत नहीं होती तथा वह सर्वत्र भगवान् का ही दर्शन करता है। जहां तक ज्ञानी का प्रश्न है, वह निर्गुण का उपासक होने के कारण साध्यावस्था में परब्रह्म को अपने से अतिरिक्त न समझकर ब्रह्मावस्था को ही प्राप्त कर लेता है।[80] अत: ज्ञान और भक्ति का यह भेद विचारणीय है कि ज्ञान का साध्य यदि निर्गुण एवं निराकार है तो भक्ति का साध्य साकार एवं सगुण है। यहां यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि भक्ति में आनन्द की जो अनुभूति होती है वह लोक के सुख से भिन्न होने के कारण विलक्षण है।

जहां तक श्रीमद्भागवत का प्रश्न है, श्रीमद्भागवत अत्यन्त गोपनीय रहस्यात्मक पुराण है। यह भगवत्स्वरूप का अनुभव कराने वाला और समस्त वेदों का सार है। संसार में फंसे हुए जो लोग इस घोर अज्ञानान्धकार से पार जाना चाहते हैं उनके लिए आध्यात्मिक तत्त्वों को प्रकाशित करने वाला यह एक अद्वितीय दीपक है।[81] वैसे तो श्रीमद्भागवत् भक्ति का परम ग्रन्थ है, किन्तु इसके अन्तर्गत भक्ति एवं अद्वैत वेदान्त दोनों के ही सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। भागवत का अध्यात्म पक्ष पूर्ण अद्वैत तथा व्यवहार

पक्ष विशुद्ध भक्ति है। यहां यह संकेत करना भी अपेक्षित है कि अद्वैतवादियों और भक्तों के आनन्द के स्वरूप में भी अन्तर है। भक्तों का आनन्द जहां भगवान् के सगुण रूप पर आधारित है, वहां अद्वैतियों का आनन्द ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप पर।

श्रीमद्भागवत अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। ऐसा भागवत के द्वितीय स्कन्ध के नवें अध्याय से ज्ञात होता है जहां भगवान् ने स्वयं ब्रह्म को अपने रूप का ज्ञान दिया है। उन श्लोकों का सारांश इस प्रकार है कि सृष्टि के पूर्व केवल मैं ही मैं था, मेरे अतिरिक्त न स्थूल था, न सूक्ष्म, न इन दोनों का कारण अज्ञान। जहां पर सृष्टि नहीं होती वहां मैं ही हूँ और इस सृष्टि के रूप में जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं ही हूँ।।32।। वास्तव में न होने पर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त परमात्मा में दो चन्द्रमाओं की तरह प्रतीत हो रही है अथवा विद्यमान होने पर भी आकाशमण्डल के नक्षत्रों में राहु की भांति जो प्रतीति नहीं होती, उसे मेरी माया समझना चाहिए।।33।। जैसे प्राणियों के पंचभूत रचित छोटे - छोटे शरीरों में आकाशादि पंचमहाभूत उन शरीरों के कार्य रूप से निर्मित होने के कारण प्रवेश भी करते हैं और पहले से ही उन स्थानों और रूपों में कारण रूप से विद्यमान रहने के कारण प्रवेश भी नहीं करते। वैसे ही उन प्राणियों के शरीर की दृष्टि से मैं उनमें आत्मा के रूप में प्रवेश किए हुए हूँ। आत्मदृष्टि से अपने अतिरिक्त कोई वस्तु न होने के कारण उनमें प्रविष्ट नहीं भी हूँ।।34।। यह ब्रह्म नहीं, इस प्रकार निषेध की पद्धति से और यह ब्रह्म है इस अन्वय की पद्धति से यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान् ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित है, यही वास्तविक तत्त्व है।।35।।[82] अतः इसमें भगवान् के निर्गुण - सगुण, जीव - जगत् सबकी एकता का प्रतिपादन है अर्थात् भगवान् निर्गुण, सगुण, जीव तथा जगत् सब वही है।

अब हम यहां श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत जो आनन्दवाद का स्वरूप मिलता है उसके सम्बन्ध में विचार करेंगे। श्रीमद्भागवत से ज्ञात होता है, कि भगवान् की लीला अमोघ है, वे लीला से ही इस संसार का सृजन, पालन

और संहार करते हैं, किन्तु इसमें आसक्त नहीं होते। प्राणियों के अन्तःकरण में छिपे रहकर ज्ञानेन्द्रिय और मन के नियन्ता के रूप में उनके विषयों को ग्रहण भी करते हैं, परन्तु उससे अलग-अलग रहते हैं, वे परम स्वतन्त्र हैं। ये विषय कभी उन्हें लिप्त नहीं कर सकते हैं।[83] जैसे अनजान मनुष्य, जादूगर अथवा नट के संकल्प और वचनों से की हुई करामात को नहीं समझ पाता, वैसे ही अपने संकल्प और वेदवाणी के द्वारा भगवान के प्रकट किए हुए, इन नाना नाम और रूपों को तथा उनकी लीलाओं को कुबुद्धि जीव बहुत-सी तर्क-युक्तियों के द्वारा नहीं पहचान सकता।[84]

श्रीमद्भागवत में एकमात्र परमात्मा नारायण के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है और उसी के प्रति अपने सारे जीवन को समर्पण करने, उसी में तल्लीन व तन्मय रहने का उपदेश दिया गया है। संसार के समस्त दुःखों से छूटने व अखण्ड सुख पाने का यही सबसे उत्तम व सुसाध्य उपाय बताया है। भक्ति का लक्षण देते हुए कहा है-कि मनुष्यों के श्रेष्ठ धर्म वही हैं जिससे भगवान् श्री कृष्ण में भक्ति हो-भक्ति भी ऐसी जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे। ऐसी भक्ति से हृदय आनन्द-स्वरूप परमात्मा की उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।[85] जो मनुष्य एकाग्रचित से नियमपूर्वक सायंकाल और प्रातःकाल प्रेम से भागवत कथा का पाठ करता है वह सब दुःखों से छूट जाता है।[86] भगवान् का सूक्ष्म और अव्यक्त स्वरूप है, जो न तो स्थूल की तरह आकारादि गुणों वाला है और न देखने-सुनने में ही आ सकता है, वही सूक्ष्म शरीर है। आत्मा का आरोप या प्रवेश होने से यही जीव कहलाता है। इसी का बार-बार जन्म होता है।[87] ये सूक्ष्म और स्थूल शरीर अविद्या से ही आत्मा में आरोपित हैं, जिस अवस्था में आत्मस्वरूप के ज्ञान से यह आरोप दूर हो जाता है, उसी समय ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।[88] जिस समय यह बुद्धिरूपा परमेश्वर की माया निवृत्त हो जाती है, उस समय जीव परमानन्दमय हो जाता है और अपनी स्वरूप महिमा में प्रतिष्ठित होता है।[89]

भगवान् अनन्त है। कोई विचारवान ज्ञानी पुरुष ही संसार की ओर

से निवृत्त होकर उनके स्वरूपभूत परमानन्द का अनुभव कर सकता है।[90] संसार के विषय सुख तो जैसे बिना चेष्टा के दुःख मिलते हैं, वैसे ही कर्म के फलरूप में अचिन्तयगति समय के फेर से सबको सर्वत्र स्वभाव से ही मिल जाते हैं।[91]

पुरुषोत्तम भगवान् श्री कृष्ण के प्रति समस्त कर्मों को समर्पित कर देना ही संसार के तीनों तापों की एकमात्र औषधि है।[92] इस लोक में जो शास्त्रविहित कर्म भगवान् की प्रसन्नता के लिए किए जाते हैं, उन्हीं से पराभक्ति-युक्त ज्ञान की प्राप्ति होती है (यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्। ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्-श्री मद्भागवत-महापुराण 1/5/35)। जैसे कठपुतली नचाने वाले की इच्छा के अनुसार ही नाचती है, वैसे ही यह सारा संसार ईश्वर के अधीन है। श्री कृष्ण के यश का श्रवण और कीर्तन दोनों पवित्र करने वाले हैं, वे अपनी कथा सुनने वालों के हृदय में आकर स्थित हो जाते है और उनकी अशुभ वासनाओं को नष्ट कर देते हैं, क्योंकि वे संतों के नित्य सुहृद हैं। जब श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्भक्तों के निरन्तर सेवन से अशुभ वासनाएं नष्ट होती हैं, तब पवित्र कीर्ति भगवान् श्री कृष्ण के प्रति स्थायी प्रेम की प्राप्ति होती है, तब रजोगुण और तमोगुण के भाव-काम और लोभादि शान्त हो जाते हैं और चित्त इनसे रहित होकर सत्वगुण में स्थित एवं निर्मल हो जाता है, इस प्रकार भगवान की प्रेममयी भक्ति से संसार की समस्त आसक्तियां मिट जाती हैं, हृदय आनन्द से भर जाता है। तब भगवान् के तत्त्व का अनुभव अपने आप हो जाता है। हृदय में आत्मस्वरूप भगवान् का साक्षात्कार होते ही हृदय की ग्रंथि टूट जाती है, सारे सन्देह मिट जाते हैं और कर्मबन्धन क्षीण हो जाता है। इसी से बुद्धिमान लोग नित्य निरन्तर बड़े आनन्द से भगवान् श्री कृष्ण के प्रति प्रेम भक्ति करते हैं। जिससे आत्मप्रसाद की प्राप्ति होती है (श्रीमदभगवत-महापुराण 1/2/17, 18, 19, 20, 21, 22)।

वेदों का तात्पर्य श्री कृष्ण में ही है। यज्ञों के उद्देश्य श्री कृष्ण ही हैं। योग श्री कृष्ण के लिए ही किए जाते हैं और समस्त कर्मों की परिसमाप्ति

भी श्री कृष्ण में ही है। ज्ञान से ब्रह्म-स्वरूप श्री कृष्ण की ही प्राप्ति होती है। तपस्या श्री कृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही की जाती है। धर्मों का अनुष्ठान श्री कृष्ण के लिए ही होता है। सब गतियां श्री कृष्ण में ही समा जाती हैं, यद्यपि भगवान् श्री कृष्ण प्रकृति और उसके गुणों से अतीत हैं, फिर भी अपनी गुणमयी माया से, जो प्रपंच की दृष्टि से है और तत्त्व की दृष्टि से नहीं है, उन्होंने ही सर्ग के आदि में इस सृष्टि की रचना की, ये सत्व, रज और तम-तीनों गुण उसी माया के विलास है। वास्तव में तो वे परिपूर्ण विज्ञानान्दघन है।[93]

जब वासनाएं प्रहार करना बन्द कर देती हैं और समस्त वृत्तियां अत्यन्त शान्त हो जाती हैं, तब चित्त ब्रह्मानन्द के संस्पर्श में मग्न हो जाता है और फिर उसका कभी उत्थान नहीं होता।[94]

श्रीमद्भागवत में श्री कृष्ण के उद्धव के प्रति उपदेश में आनन्द का स्वरूप

यह तथ्य भगवान् श्री कृष्ण के भक्त और श्रीमद्भावगत के प्रेमी जनों से छिपा नहीं है, कि उद्धव ज्ञान और रसिक विहारी भगवान् श्री कृष्ण विशेष रूप से भक्ति के समर्थक थे। इस प्रकार उद्धव के प्रति दिए गए भगवान् श्री कृष्ण के उपदेश किस प्रकार भक्ति एवं आनन्द के रहस्य का उद्घाटन करते हैं। यही दर्शनीय है। अतएव यहां श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत भगवान् श्री कृष्ण के द्वारा किए गए उपदेश के अन्तर्गत आनन्द तत्त्व का वर्णन करने का प्रयास किया जाएगा। भगवान श्री कृष्ण उद्धव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि प्रिय उद्धव सभी की बुद्धि मेरी माया से मोहित हो रही है, इसी से वे अपनी-अपनी रूचि के अनुसार आत्मकल्याण के साधन भी एक नहीं अनेक बतलाते हैं। पूर्व मीमांसक धर्म को, साहित्याचार्य यश को, कामशास्त्री काम को, योगवेत्ता सत्य और शमदमादि को, दण्डनीतिकार ऐश्वर्य को, त्यागी त्याग को और लोकायतिक भोग को ही मनुष्य जीवन का स्वार्थ परमलाभ बतलाते हैं।[95]

श्री कृष्ण उद्धव जी से कहते हैं कि कर्मयोगी लोग यज्ञ, तप, दान, व्रत तथा यम नियमादि को पुरुषार्थ बतलाते हैं। परन्तु ये सभी कर्म हैं, इनके फलस्वरूप जो लोक मिलते हैं वे उत्पत्ति और नाश वाले हैं। कर्मों का फल समाप्त हो जाने पर उनसे दुःख ही मिलता है और सच पूछो तो उनकी अन्तिम गति घोर अज्ञान ही है। उनसे जो सुख मिलता है वह तुच्छ है, नगण्य है, वह लोक भोग के समय भी असूया आदि दोषों के कारण शोक से परिपूर्ण है। इसीलिए इन विभिन्न साधनों के फेर में नहीं पड़ना चाहिए।[96] प्रिय उद्धव, जो सब ओर से निरपेक्ष हो गया है, किसी भी कर्म या फलादि की आवश्यकता नहीं रखता और अपने अन्तःकरण को सब प्रकार से मुझे ही समर्पित कर चुका है, परमानन्दस्वरूप मैं उसकी आत्मा के रूप में स्फुरित होने लगता हूँ। इससे वह जिस सुख का अनुभव करता है, वह विषय-लोलुप प्राणियों को किसी प्रकार मिल नहीं सकता, जो सब प्रकार के संग्रह परिग्रह से रहित अकिंचन है, जो अपनी इन्द्रियों पर विजय पाकर शान्त और समदर्शी हो गया है, जो मेरी प्राप्ति से ही मेरे सान्निध्य का अनुभव करके ही सदा सर्वदा पूर्ण सन्तोष का अनुभव करता है, उसके लिए आकाश का एक-एक कोना आनन्द से भरा हुआ है।[97]

आनन्द एवं समर्पण भाव

भगवान् श्री कृष्ण समर्पण भाव का उपदेश करते हुए उद्धव से कहते हैं कि जिसने अपने को मुझे सौंप दिया, वह मुझे छोड़ कर न तो ब्रह्मा का पद चाहता है, और न देवराज इन्द्र का, उसके मन में न तो सार्वभौम सम्राट बनने की इच्छा होती है और न वह स्वयं से भी श्रेष्ठ रसातल का ही स्वामी होना चाहता है, वह योग की बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्ष तक की अभिलाषा नहीं करता।[98]

जिसे किसी की अपेक्षा नहीं, जो जगत् के चिन्तन से सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन चिन्तन में तल्लीन रहता है और रागद्वेष न रख कर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्मा के पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणों की धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाए

और मैं पवित्र हो जाऊँ।[99] जो सब प्रकार के संग्रह परिग्रह से रहित हैं, यहां तक कि शारीरादि में भी अहंता ममता नहीं रखते, जिनका चित्त मेरे ही प्रेम के रंग में रंग गया है, जो संसार की वासनाओं से ऊपर और शान्त हो चुके हैं और जो अपनी महत्ता-उदारता के कारण स्वभाव से ही समस्त प्राणियों के प्रति दया और प्रेम का भाव रखते हैं, किसी प्रकार की कामना जिनकी बुद्धि का स्पर्श नहीं कर पाती, उन्हें मेरे जिस परमानन्द-स्वरूप का अनुभव होता है, उसे और कोई नहीं जान सकता, क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षता से ही प्राप्त होता है।[100]

भक्ति भाव एवं आनन्द

भक्ति के स्वरूप एवं उसकी महत्ता को प्रदर्शित करते हुए भगवान् श्री कृष्ण उद्धव से कहते हैं, जैसे धधकती हुई आग लकड़ियों के बड़े ढेर को भी जला कर खाक कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पाप राशि को पूर्णतया जला डालती है।[101] योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त कराने में उतने समर्थ नहीं हैं जितनी दिनों दिन बढ़ने वाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति।[102] मैं सन्तों का प्रियतम आत्मा हूँ, मैं अनन्य श्रद्धा और अनन्य भक्ति से ही पकड़ में आता हूँ। मुझे प्राप्त करने का यह एक ही उपाय है। मेरी अनन्य भक्ति उन लोगों को भी पवित्र, जाति-दोष से मुक्त कर देती है, जो जन्म से ही चाण्डाल हैं।[103] इस के अतिरिक्त जो मेरी भक्ति से वंचित हैं, उनके चित्त को सत्य और दया से युक्त धर्म और तपस्या से युक्त विद्या भी भली-भांति पवित्र करने में असमर्थ है।[104] जब तक सारा शरीर पुलकित नहीं हो जाता, चित्त पिघल कर गद्‌गद् नहीं हो जाता, आनन्द के आंसू आंखों से छलकने नहीं लगते तथा अन्तरंग और बहिरंग भक्ति की बाढ़ में चित्त डूबने, उतरने नहीं लगता, तब तक इसके शुद्ध होने की कोई सम्भावना नहीं है।[105]

जिनकी वाणी प्रेम से गद्‌गद् हो रही है, चित्त पिघलकर एक ओर बहता रहता है, एक क्षण के लिए रोने का तांता नहीं टूटता, परन्तु जो कभी खिलखिलाकर हंसने भी लगता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊंचे स्वर से गाने

लगता है, तो कहीं नाचने लगता है, भैया उद्धव, मेरा भक्त न केवल अपने को बल्कि सारे संसार को पवित्र कर देता है।[106] जैसे आग में तपाने पर सोना मैल छोड़ देता है - निखर जाता है और अपने असली शुद्ध रूप में स्थित हो जाता है, वैसे ही मेरे भक्ति योग के द्वारा आत्मा कर्म वासनाओं से मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि मैं ही उसका वास्तविक स्वरूप हूँ।[107]

समीक्षा

सगुण एवं निर्गुण का विवेचन करते समय इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक है कि क्या सगुण एवं निर्गुण के आनन्द में कोई अन्तर है या ये दोनों एकदम समान ही है। इस सम्बन्ध में कहा जाएगा कि दोनों ही प्रकार के आनन्द अनुभूति-स्वरूप हैं। किन्तु दोनों का यह अन्तर विचारणीय हैं, कि जहां ज्ञानी के आनन्द में मन बुद्धि आदि के स्पर्श का प्रश्न ही नहीं उठता, वहां भक्त के आनन्द में मानसिकता एवं इन्द्रिय परकता किसी न किसी रूप में बनी ही रहती है। यही कारण है कि भक्त को श्री कृष्ण और राम के दर्शन में विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है। क्योंकि ज्ञानी के आनन्द में उस ब्रह्म की न आकृति है और न रूप। अत: ज्ञानी का आनन्द निश्चय ही भक्त के आनन्द से भिन्न है। यही कारण है कि वैष्णव भक्ति के अन्तर्गत सायुज्य, सम्मोद, सामीप्य, सालोक्य तथा सारूप्य के रूप में मुक्ति के भेद किए गए हैं। संक्षेपत: ज्ञानी एवं भक्त के आनन्द की यह भेद रेखा विचारणीय है।

सन्दर्भ :

1. ऋचा त्व: पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रंत्वो गायति शक्वरीषु।
   ब्रह्मात्वो वदति जातिविद्यां यज्ञत्य मात्रां वि मिमीत उ त्व:।। ऋक् 10.71.।।
2. यत्र ज्योतिरजस्त्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्। तस्मिन् मां धेहि पवमानाऽमृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्द्रो परिस्त्रव।। ऋक्0 9/। 13/7
   यत्र राजा वैवस्वतो यत्राबरोधनं द्विव:

यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्द्रो परिस्त्रव। ऋक्० 9/113/8

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।

लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि...।। ऋक्० 9/। 13/9

यत्र कामा निकामाश्च यत्र बध्नस्य विष्टपम्।

स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधि...।। ऋक्० 9/। 13/10

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।

कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि...।। ऋक्० 9/। 13/11

3. अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते। ऋक्० 3/53/6

4. ताभिर्वहैनं-सकृतामु लोकम्। ऋक्० 10/16/4

5. ऋक्० 10/154/2-3

6. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः बृ० उ० 2/4

एष म आत्मान्तर्हृदये एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति।छा०उ० 3.14

7. ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। मु० उ० 3/29

न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते। छा० उ० 8/15

8. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः, न्यायसूत्र 1/1/22

अथ त्रिविधदुखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। सांख्य सूत्र 1/1

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। पातंजलयोगसूत्र 2/55

9. ऋक् 1/54/5, 1/22/20, 21

10. सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु। ऋक् 1/24/12

विद्वान् अदब्धो विमुमोक्तु पाशान्। ऋक् 1/24/13

11. उदुत्तमं मुमुग्धि नो विपाशं मध्यमं चृत। अवाधमानि जीवसे। ऋक् 1.25.21

12. बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुग्ध्यस्मत् ऋक् 1/24/9

13. दामेव वत्साद्वि मुमुग्ध्यंहो.......। ऋक्० 2/28/6

14. न मृत्येवऽवतस्थे कदाचन। ऋक्० 10/48/5

15. परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु। अथर्व० 18/3/62

16. ऋक्० 9/113/7-11

17. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम्। कंठ० उ० 2/3/14-15

18. अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय, परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिः निष्पद्यते। छा० उ० 8/3/4

19. संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्। ब्र० सू० 4/4/1

20. ऋक्० 1/193/16, 1/164/30, 1/66/1, 1/115/1, 10/58/1
देखिए, इन सन्दर्भों पर ग्रिफ़िथ का अनुवाद

21. ऋक्० 10/121/1, 10/81-82 तथा 90 सम्पूर्ण सूक्त, 1/86/10, 10/72/2 सम्पूर्ण सूक्त

22. एष ब्रह्मैष इन्द्रः एष प्रजापतिः, एते सर्वे देवा इमानि च
पंचमहाभूतानि यत्किंचेदं प्रार्णिजगमं च, पतत्रि च,
यच्च स्थावरम्-ऐत० उ० 3.1.3

23. ऋक्० 1/154/5

24. ऋक्० 1/154/5 पर सायण भाष्य

25. यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धामं परमं मम। गीता 8/21

26. अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः
तमेव विद्वान्न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्। अथर्व० 10/8/44

27. यो भूतं च भव्यं व सर्व यश्चाधितिष्ठति
स्वयंस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणो नमः। अथर्व० 10/8/1

28. आत्मेव शे वो दिधिषाय्यो भूत। ऋक्० 1/73/2

29. सा० भा० ऋक्० 1/73/2

30. ऋक्० 1/73/2 पर ग्रिफिथ का अनुवाद

31. बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य, संबंध भाष्य

32. कठोपनिषद् भाष्य, संबंध भाष्य

33. बृहदारण्यक वार्तिक, सम्बन्ध भाष्य, 5-8

34. अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैवप्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।।
कठोपनिषद्-1/2/1

35. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० 3.6.1,

36. तैतिरीयोपनिषद्, सानुवाद शांकर भाष्य सहित 2/5/1 पृ०-147

37. यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः तै० उ० 2/7/1

38. रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति- तै०उ० 2/7/1

39. तैत्तिरीयोपनिषद् 2/7/1

40. तैत्तिरीयोपनिषद (सानुवाद शांकर भाष्यसहित) पृ०-274

41. तैत्तिरीयोपनिषद् 2/8/1-4, पृ०-185

42. विज्ञानमानन्दं ब्रह्म बृ० उ० शा० भा० 3/9/28

43. विज्ञप्तिर्विज्ञानम् तच्च आनन्दम् ...... सर्वाण्यानन्दवाक्यानि द्रष्टव्यानि
बृ० उ० शा० भा० 3/9/28 पर भाष्य

44. यो वै भूमा महन्निरतिशयं बह्विति पर्यायास्तत्सुखम्।.........
...तृष्णादिदुः खबीजत्वासम्भवाद्भूम्नः। छा० उ० 7/23/1 पर भाष्य

45. यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति........ वा न महिम्नीति।।
छा० उ० 7/24/1 पर भाष्य

46. श्रीमद्भगवद्गीता 2/56

47. छान्दोग्योपनिषद् 3, 14, 1

48. छान्दोग्योपनिषद् 8/15/1

49. कठोपनिषद् 2/2/1

50. न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धामपरमं मम।। श्रीमद्भगवद्गीता 15/6

51. सुखम् आह्लादः, श्रीमद्भगवद्गीता (शांकर भाष्य) पृ० - 246

52. सुखम् अनुकूलं प्रसन्नं सत्त्वात्मकं। श्रीमद्भगवत्गीता, पृ० - 316

53. इदं तु गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयेव।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात। गीता9/1

54. श्रीमद्भगवद्गीता 18/36, 37, 38

55. विषयेन्द्रियसंयोगाद्यतदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसम स्मृतम्
श्रीमद्भगवद्गीता 18/38

56. यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतग्। श्रीमद्भगवद्गीता 18/39

57. ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। श्रीमद्भगवद्गीता 4, 24

58. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।। श्रीमद्भगवद्गीता 15, 7

59. अमृतस्य अविनाशिनः अव्ययस्य अविकारिणः।
शाश्वतस्य च नित्यस्य धर्मस्य ज्ञान योग। गीता 14, 27 (शा० भा०)

60. विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति। श्रीमद्भगवद्गीता 2, 71

61. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। श्रीमद्भगवद्गीता 4, 19

62. त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः।। श्रीमद्भगवद्गीता, 4, 20

63. निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।। श्रीमद्भगवद्गीता 4, 21

64. कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।। श्रीमद्भगवद्गीता, 5, 11

65. यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।। श्रीमद्भगवद्गीता, 6, 4

66. श्रीमद्भगवद्गीता 18, 23

67. कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽजुर्न।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः। श्रीमद्भगवद्गीता 18, 9

68. विषयसेवातृष्णातो निवृत्तिः या तत् सुखम्, न
विषयविषया तृष्णा, दुःखं एव हि सा। श्रीमद्भगवद्गीता, शा० भा० 2,66

69. अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।
श्रीमद्भगवद्गीता शा० भा०, 4, 40

70. बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।। श्रीमद्भगवद्गीता, शा० भा० 5/21

71. ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। श्रीमद्भगवद्गीता, शा० भा० 5/22

72. शक्नोतीहैव यः सोढुंप्राक्शरीरविमोक्षणात्
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।। श्रीमद्भगवद्गीता, शा० भा० 5/23

73. सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।। श्रीमद्भगवद्गीता, शा० भा० 6/21

74. प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।। श्रीमद्भगवद्गीता शा० भा० 6/27

75. तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।। श्रीमद्भगवद्गीता शा० भा० 5/17

76. श्रीमद्भगवद्गीता, 5/24, 6/27, 18/54

77. श्रीमद्भगवद्गीता शा० भा० 13/27, 34

78. सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।। श्रीमद्भगवद्गीता, 5/13

79. परानुरक्तिरीश्वरे। शाण्डिल्य सूत्र 1/1 स्वप्नेश्वर की टीका

80. ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। मुण्डकोपनिषद् 3/2/9

81. यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक

मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम्।

संसारिणां करूणाऽऽह पुराणगुह्यं

तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम्। श्रीमद्भागवत-महापुराण 1/2/3

82. अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।

पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।।

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।

तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः।।33।।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।

प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्।।34।।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा।।35।।

श्रीमद्भागवत-महापुराण 2/9/32, 33, 34, 35

83. स वा इदं विश्वममोघलीलः

सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्।

भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः

षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः -श्रीमद्भागवत-महापुराण 1.3.36

84. न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातु-
रवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः।
नामानि रुपाणि मनोवचोभिः
संतन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः -श्रीमद्भागवत-महापुराण 1/3/37

85. स वै पुंसु परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति।। श्रीमद्भागवत-महापुराण 1/2/6

86. जन्म गुह्यं भगवतो य एतत्प्रयतो नरः।
सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामादविमुच्यते।। श्रीमद्भागवत-महापुराण 1/3/29

87. अतः परं यदव्यक्तमव्यूढ़गुणव्यूहितम्।
अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात्स जीवो यत्पुनर्भवः।। श्रीमद्भागवत-महापुराण 1/3/32

88. यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषद्धे स्वसंविदा।
अविद्ययाऽऽत्मनि कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम्।। श्रीमद्भागवत-महापुराण 1/3/33

89. यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते।। श्रीमद्भागवत-महापुराण 1/3/34

90. श्रीमद्भावगत-महापुराण 1/5/15-32

91. तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यदभ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गंभीर हंसा।। श्रीमद्भागवत-महापुराण 1/5/18

92. एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सतम्।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम्।। श्रीमद्भागवत-महापुराण 1/5/32

93. श्रीमद्भागवत-महापुराण 1/2/28, 29, 30, **31**

94. कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत्।
चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित्।। श्रीमद्भागवत-महापुराण 7/15/35

95. मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ।

श्रयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि।। श्रीमद्भागवत – महापुराण 11 / 14 / 9

धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम्।

अन्ये वदन्ति स्वार्थ वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम्

श्रीमद्भागवत – महापुराण 11 / 14 / 10

96. केचिद् यज्ञ तपोदानं व्रतानि नियमान्यमान्।

आद्यन्तवन्त एवैषां लोका: कर्मविनिर्मिता:

दु:खोदर्कास्तमोनिष्ठा: क्षुद्रानन्दा: शुचार्पिता:।। श्रीमद्भागवत – महापुराण 11 / 14 / 11

97. मय्यर्पितात्मन: सभ्य निरपेक्षस्य सर्वत:।

मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुत: स्याद् विषयात्मनाम्।।

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतस:

मया सन्तुष्टमनस: सर्वा: सुखमया दिश:।।

श्रीमद्भागवत – महापुराण 11 / 14 / 12, 13

98. न पारमेष्ठयं न महेन्द्रधिष्ण्यं

न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा

मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्।। श्रीमद्भागवत – महापुराण 11 / 14 / 14

99. निरपेक्ष मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभि:।।

श्रीमद्भागवत – महापुराण 11 / 14 / 16

100. निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतस:

शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सला:।

कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्

तन्नैरपेक्ष्यं न विदु: सुखं मम श्रीमद्भागवत – महापुराण 11.14.17

101. यथाग्नि: सुसमृद्धार्चि: करोत्येधांसि भस्मसात्।

तथा मद्विषया भक्तिरूद्धवैनांसि कृत्स्नश:।।

श्रीमद्भागवत – महापुराण 11 / 14 / 19 .

102. न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता।।

श्रीमद्भागवत – महापुराण 11 / 14 / 20

103. भक्त्याऽहमेकया ग्राह्य: श्रद्धयाऽऽत्मा प्रिय: सताम्।
भक्ति: पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्।।

श्रीमद्भागवत – महापुराण 11 / 14 / 21

104. धर्म: सत्यदयोपेता विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि।

श्रीमद्भागवत – महापुराण 11 / 14 / 22

105. कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलयाशुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशय:।।

श्रीमद्भागवत – महापुराण 11 / 14 / 23

106. वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रूदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।। श्रीमद्भागवत – महापुराण 11 / 14 / 24

107. यथाग्निना हेम मलँ जहाति
ध्मातं पुन: स्वं भजते च रूपम
आत्मा च कर्मानशुयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्।। श्रीमद्भागवत – महापुराण 11 / 14 / 25

तृतीय अध्याय

शांकर वेदान्त में आनन्दवाद का स्वरूप

शंकराचार्य के अनुसार आनन्दवादी दृष्टि

यों तो आनन्दवाद का सिद्धान्त भारतीय दर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है तथा आनन्दवाद के सम्बन्ध में दार्शनिकों एवं विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टि से विचार किया है। उदाहरण के लिए बौद्धों ने निर्वाण को ही सर्वोच्च उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया है तथा नैयायिकों ने सुख को ही आनन्द की संज्ञा दी है। जहां तक चार्वाकों का प्रश्न है इन्होंने भौतिक सुख को ही सर्वोच्च स्वीकार किया है। योगियों ने समाधिस्थ आनन्द को ही सर्वोच्च आनन्द की संज्ञा दी है। जहां तक आनन्द के सम्बन्ध में शंकराचार्य का प्रश्न है, शंकराचार्य की आनन्दवादी दृष्टि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आचार्य ने ब्रह्म को ही आनन्द स्वरूप कहा है तथा यही ब्रह्मानन्द मोक्ष ही है। इस प्रकार शंकराचार्य की आनन्दवादी दृष्टि के अनुसार ब्रह्मानुभवकर्त्ता तत्त्वज्ञानी के लिए सर्वत्र तथा सर्वदा आनन्द का अनुभव होता है। इसीलिए उपनिषदों में ब्रह्म को 'सर्वदैकरस' भी कहा गया है। इस प्रकार शंकराचार्य की आनन्दवादी दृष्टि का शाश्वत एवं परमार्थ मूल्य सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त जगत् आदि तत्व शांकर वेदान्त की दृष्टि से विचार करने पर मिथ्या सिद्ध होते हैं। ''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।[1] अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत्य है, संसार मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं। अतः शांकर दर्शन के अनुसार आनन्द एक परमार्थ एवं चरम सत् के रूप में सिद्ध होता है।

अद्वैतामृतसार में कहा गया है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। वही इस जगत् की प्रतिष्ठा और समस्त पदार्थों का मूल तथा पारमार्थिक सत्ता है। वह सर्वथा एक आनन्द बहुरूपी (सब प्रकार के रूपों का आश्रय) परन्तु स्वयं रूपातीत, ज्ञान स्वभाव वह ब्रह्म अविद्या अन्धकार के परे है।[2]

अविद्या निवृत्ति तथा आनन्द

यह वेदान्त का सुविदित तथ्य है कि जीव जो स्वभावतः एवं स्वरूपतः बह्म ही है, सच्चिदानन्द स्वरूप है। यह संकेत भी प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है कि ब्रह्म की सत्, चित एवं आनन्द ये तीनों विशेषताएं पृथक्-पृथक् न होकर समन्वित तथा एकरूप हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि जब ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है तो उसका अनुभव जीव को क्यों नहीं होता, इसका उत्तर शांकर वेदान्त में यही है कि जीव के स्वरूप-बोध एवं आनन्दबोध में अविद्या ही बाधक है। अतः अविद्या की निवृत्ति होने पर अथवा यों कहिए कि अविद्या का आवरण हट जाने पर जीव मोक्ष से इसको प्राप्त करता है।[3]

यहां यह कहना भी असंगत न होगा कि यह मोक्ष की स्थिति ही ब्रह्म की स्थिति है।[4] शतश्लोकी के अन्तर्गत भी कहा गया है कि मुक्ति की स्थिति में जीव को चरमशान्ति एवं सुख का अनुभव होता है।[5] जहां तक अविद्या-निवृत्ति का सम्बन्ध है, जब जीव की द्वैत बुद्धि का उच्छेद हो जाता है तो यही स्थिति अविद्या निवृत्ति कहलाती है। यहां एक समस्या उत्पन्न होती है कि पहले अविद्या निवृति होती है अथवा ब्रह्म ज्ञान?

इस सम्बन्ध में यह समाधान समुचित होगा कि ब्रह्मज्ञान होने पर ही अविद्या-निवृत्ति होती है। इसीलिये शंकराचार्य के परमगुरू आचार्य गौड़पाद ने कहा है कि तत्त्व-ज्ञान होने पर अविद्या स्वरूपिनी द्वैत बुद्धि समाप्त हो जाती है।[6] आत्मानात्म विवेक में कहा गया है कि जब जीव और ब्रह्म में एकत्व का भान होता है, तभी हर तरह की अविद्या का स्वतः विनाश हो जाता है।[7]

शंकराचार्य के अनुसार अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है, वही ब्रह्म प्राप्ति है, मोक्ष और अविद्या-निवृत्ति एक ही है।[8] शंकर मानते हैं कि ज्ञान का कार्य अविद्या-निवृत्तिमात्र है, इसी अर्थ में मोक्ष को ज्ञान का कार्य कहा जाता है।[9] अविद्या की निवृत्ति ही परमात्मा की प्राप्ति है।[10]

ब्रह्म की जीवरूपता का मूल कारण अविद्या है। अविद्या के द्वारा ही जीव में कर्तृत्वादि का अभिमान उत्पन्न होता है। विद्या की उत्पत्ति एवं अविद्या की निवृत्ति होने पर जीव अपने स्वरूप का बोध कर लेता है। यह आत्मबोध ही मुक्ति है। मोक्ष की स्थिति ही परमानन्द की स्थिति है। मुक्ति प्राप्त होने पर जीव का जीवत्व नष्ट होने से जीव का बन्धन नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार अविद्यावश जब तक रज्जु का सर्परूपेण ज्ञान होता है, तब तक सर्पजन्य भयादि बन्धन बने रहते हैं। परन्तु जब वास्तविक रूप रज्जु का ज्ञान हो जाता है, तो भ्रान्ति कालीन सर्प के नष्ट हो जाने पर उससे उत्पन्न भयादि बन्धन भी स्वत: नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार कूटस्थ ब्रह्मात्मा के बोध के द्वारा जीव का जीवत्व नष्ट होने पर जीव के सुख:दुखादि बन्धन स्वत: नष्ट हो जाते है।[11]

अत: अविद्या संसार दशा में पूर्णानन्द को नहीं के समान बना देती है। उस अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर सम्पूर्ण विक्षेप की निवृत्ति हो जाने पर अपने कण्ठ में स्थित विस्मृत सुवर्ण हार की प्राप्ति के समान उस आनन्द की भी प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् जैसे कोई अपने हार के गले में रहते भी, उसकी विस्मृति से उसे इधर-उधर ढूंढता है। यद्यपि हार प्राप्त ही है, अप्राप्त नहीं है, फिर भी व्यक्ति भ्रान्ति से उसको अप्राप्त के समान मानता है। जब उसकी यह भ्रान्ति हट जाती है कि हार तो कण्ठ में ही है, तो उसके प्राप्त रहने पर भी मैंने अप्राप्त वस्तु प्राप्त की, ऐसा मानता है, ठीक इसी प्रकार निज-स्वरूप-आनन्द के नित्य प्राप्त होने पर भी अनादि अविद्या से आवृत हो जाने के कारण वह अप्राप्त के समान प्रतीत होने लगता है और उस अविद्या के निवृत्त हो जाने पर तो निखिल अनर्थ रूप विक्षेप के निकल जाने से स्वत: आनन्द का स्फुरण होने लगता है।

अविद्या तथा ऐहिक सुख

शांकर वेदान्त के अनुसार, जैसा कि स्थान-स्थान पर कहा जा चुका है, जीव का परमसाध्य मोक्ष अथवा परमज्ञान है। यह भी पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है। यहां यह उल्लेखनीय है कि सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का अनुभव सर्वथा आध्यात्मिक है। यह आध्यात्मिक आनन्द इन्द्रियातीत एवं स्वप्रकाश तथा स्वात्मानुभवस्वरूप है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि अविद्या-निवृत्ति की स्थिति ही आत्मानन्द अथवा मोक्ष की स्थिति है। अत: संसार में सांसारिक वस्तुओं की उपलब्धि से मन को प्रसन्न करने वाले जो शीतोष्णादि सुख प्राप्त होते है वे मात्र ऐहिक हैं। जहां तक इन ऐहिक सुखों के निधान का प्रश्न है वह अविद्या ही है। अविद्या के ही कारण व्यक्ति पुत्रादि अनात्म एवं अनित्य सम्बन्धों को नित्य समझ लेता है, तथा उनमें ममत्व एवं परत्व की कल्पना करते हुए सुखी एवं दु:खी होता है। अविद्या के ही कारण अज्ञानी व्यक्ति की अनात्म विषयों में आस्था तथा आत्मा में अनास्था होती है। इस प्रकार आत्मानात्म का अविवेक ही ऐहिक सुखों का मूल कारण कहा जाएगा। यहां यह कह देना संगत होगा कि मात्र ऐहिक सुख ही नहीं अपितु आमुष्मिक स्वर्गादि सुख भी कर्मजन्य होने के कारण वेदान्त में हेय कहे गए हैं।[12] यही कारण है कि ब्रह्मसूत्रकार ने भी ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' से पहले नित्यानित्य वस्तुविवेक आदि की अपेक्षा को स्वीकार किया है।[13]

जैसा कि ऊपर कहा गया है, ऐहिक सुखों का कारण अविद्या है तथा यह अविद्या अध्यास रूप है।[14] आत्मा में अनात्मा एवं अनात्मा में आत्मा के आरोप को अध्यास कहते हैं, इस प्रकार यदि अध्यास को सुख दु:ख का कारण कहा जाए तो समीचीन होगा। निदर्शनार्थ यह कहना कि मैं सुखी हूँ आत्मा में अनात्मका के अध्यास के ही कारण है, क्योंकि आत्मा जो शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप है उसमें किसी प्रकार के सुख अथवा दु:ख का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। अत: आत्मा में अनात्मा के आरोप के कारण ही सुख एवं दु:ख का प्रश्न उपस्थित होता है। यहां कहना अपेक्षित है कि जब

व्यक्ति को अधिष्ठान रूप ब्रह्म का बोध हो जाता है, तो ''जीवो ब्रह्मैव नापर: वह स्वत: ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, तथा परमार्थ स्वरूप अनुभव दशा को प्राप्त करता है। यही जीव की वास्तविक स्थिति है, जो ऐहिक एवं आमुष्मिक सुख स्थिति से ऊपर मोक्ष की स्थिति कही जा सकती है। यही परमानन्द अवस्था है।

शंकराचार्य ने श्रीमद्भगवद्गीता के अपने भाष्य में भी कहा है कि विषय और इन्द्रियों के सहयोग से उत्पन्न जो भोग हैं वे सब अविद्या से उत्पन्न होने के कारण दु:ख के ही हेतु हैं क्योंकि आध्यात्मिक आधिदैविक, आधिभौतिक दु:ख उनके ही निमित्त से होते देखे जाते हैं। इन आध्यात्मिक आदि दु:खों के बारे में यह भी कहा गया है कि वे जैसे इस लोक में दु:ख देने वाले है वैसे ही परलोक में भी दु:ख देने वाले हैं। इस लोक में वास्तविक सुख की गन्ध मात्र भी नहीं है।[15] साथ में शंकराचार्य ने यह भी कहा है कि विषय, इन्द्रियों के सहयोग से उत्पन्न सुख प्रथम क्षण में तो अमृत के समान है, परन्तु परिणाम में विष के समान है।[16] अत: यह सारा संसार सत्व, रज और तम इन तीन गुणों का ही विस्तार है, अविद्या से कल्पित और अनर्थरूप है।[17]

अहंब्रह्मास्मि और आनन्द

अहंब्रह्मास्मि वृत्ति तत्त्वमसि के पश्चाद्वर्तिनी वृत्ति है। जब गुरु शिष्य को तत्त्वमसि के रूप में ज्ञान का उपदेश देता है, तो उसके पश्चात् शिष्य को अहं ब्रह्मास्मि के रूप में मानसिक स्तर पर अहंब्रह्मास्मि इस वृत्ति का अनुभव होता है। इस प्रकार अहंब्रह्मास्मि अन्त:करण की वह अखण्ड आकार आकारित वृत्ति है, जिसका उदय जिज्ञासु के अन्त:करण में तत्त्वमसि के द्वारा अखण्डाकार का बोध होने पर होता है। अहंब्रह्मास्मि की अवस्था मुक्ति की अवस्था नहीं है, यह तो वृत्ति मात्र है, जो परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर नष्ट हो जाती है। वृत्ति से अभिप्राय अन्त:करण के परिणाम विशेष से है।[18] अहंब्रह्मास्मि आध्यात्मिक वृत्ति है। अत: "अहंब्रह्मास्मि" वृत्ति अनुभव की स्थिति का नाम है। इस वृत्ति के अनुसार तत्त्वजिज्ञासु को यह बोध होता है, कि मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त सत्य-स्वभाव

परमानन्द, अनन्त एवं अद्वैतरूप ब्रह्म हूँ। यदि इस वृत्ति के सम्बन्ध में सन्देह हो कि जड़ चित्तवृत्ति नित्य, शुद्ध, बुद्ध ब्रह्म को अपना विषय कैसे बना सकती है तो इसका समाधान हमें सदानन्द के इस कथन से मिलता है कि चित्तवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाती, वरन् वह अज्ञान-विशिष्ट प्रत्यग् भिन्न विषयिणी होती है। जब उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो वह प्रत्येक चैतन्यगत अज्ञान के आवरण को दूर करती है।[19] इस प्रकार अज्ञान के आवरण को दूर करना ही अहंब्रह्मास्मि इस चित्त वृत्ति के उदय का परिचायक है। प्रत्येक् परब्रह्मविषयक अज्ञानावरण के दूर होते ही तत्त्वजिज्ञासु को यह अनुभव होने लगता है कि मैं ही नित्यशुद्धबुद्ध-स्वरूप ब्रह्म हूँ। इस वृत्ति के युक्त तत्त्वेत्ता को ब्रह्म के अतिरिक्त किसी सत्ता की भ्रान्ति नहीं होती।

इस प्रकार अखण्ड चैतन्य वृत्ति के कारण प्रत्येक चैतन्यगत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर अज्ञान का कार्य प्रपंच भी उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार तन्तुरूप कारण के जल जाने पर पटरूप कार्य विनष्ट हो जाता यहां यह शंका करना उचित न होगा कि अज्ञान और उसके कार्य-प्रपंच के नष्ट हो जाने पर भी अहंब्रह्मास्मि वृत्ति तो शेष रह जाएगी, जिसके कारण अद्वैतसिद्धि में बाधा आएगी।

उक्त सन्देह को दूर करने के लिए इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक है कि वृत्ति भी अज्ञान एवं उसके कार्य प्रपंच के अन्तर्गत ही है।[20] इसलिए जब अज्ञान की निवृत्ति होगी तो कार्य प्रपंच एवं अखण्डाकाराकारित वृत्ति की भी निवृत्ति हो जाएगी। और अब यदि इस प्रकार कहा जाए कि अज्ञान, प्रपंच एवं अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का तो नाश हो गया, परन्तु वृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्याभास तो रहेगा ही, तो यह कहा जाएगा कि अखण्डाकार वृत्ति के नष्ट हो जाने पर, उसमें जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब वर्तमान था, वह भिन्न नहीं प्रतीत हो सकता। जिस प्रकार कि दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब तभी तक दिखाई देता है जब तक कि दर्पण रहता है, उसी प्रकार वृत्ति चैतन्य का प्रतिबिम्ब तभी तक रहता है, जब तक कि वृत्ति

रहती है, जिस प्रकार कि दर्पण के नष्ट हो जाने पर बिम्बमात्र (मुख) शेष रह जाता है, उसी प्रकार वृत्ति के लीन होने पर उस चैतन्य प्रतिबिम्ब के बिम्ब-प्रत्यगभिन्न पर ब्रह्म मात्र की ही सत्ता रह जाती है।[21]

जिस प्रकार कि घटादि जड़ पदार्थ को देखने के लिए नेत्र एवं दीपक दोनों की आवश्यकता होती है, परन्तु दीप के दर्शन के लिए केवन नेत्र ही पर्याप्त है।[22] उसी प्रकार अज्ञान से अवच्छिन्न जीव चैतन्यगत अज्ञान को दूर करने पर ब्रह्म मात्र के दर्शन के लिए (अहंब्रह्मास्मि) यह तदाकाराकारित चित्त वृत्ति तथा तद्गत चिदाभास दोनों की आवश्यकता है।

यहां यह विशेष रूप से कथनीय है कि ब्रह्मानन्द की अनुभूति मोक्ष की स्थिति में ही होती है, किन्तु अहंब्रह्मास्मि की स्थिति को भी आनन्द शून्य नहीं कहा जा सकता। अन्तर यह है कि मोक्ष एवं तत्त्वज्ञान की स्थिति शाश्वत आनन्द की स्थिति है जबकि अहंब्रह्मास्मि की स्थिति वृत्ति की स्थिति होने के कारण मानसिक स्तर पर आनन्द की स्थिति है। इस प्रकार अहंब्रह्मास्मि की स्थिति आनन्द की वह स्थिति है, जो आनन्द की परमावस्था न होने पर भी उनके लिए एक बलवती भूमिका प्रस्तुत करती है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर अहंब्रह्मास्मि का पर्याप्त महत्त्व है।

आनन्द की आध्यात्मिकता

आनन्द की आध्यात्मिकता से अभिप्राय आत्मा की स्थिति से है। अद्वैत मत में आत्मा और ब्रह्म में अभेद है। वह अपनी आत्मा या ब्रह्म की धारणा उपनिषदों से लेता है। इस अभेद के पक्ष में शंकराचार्य स्थान-स्थान पर अहंब्रह्मास्मि, (बृ० उ० 1/4/10), तत्त्वमसि, (छा० उ० 6/8/7) अयमात्मा ब्रह्म (बृ० उ० 2/5/9) इत्यादि श्रुतियां उद्धृत करते हैं। केवल ब्रह्म या आत्मा ही तात्त्विक पदार्थ है। इस पुष्टि में शंकर अनेक श्रुतियाँ उद्धृत करतें हैं। जैसे- एकमेवद्वितीयम् (छा० उ० 6/2/2), सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा० उ० 3/14/1), ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन (बृ० उ० 4/4/19), आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीत् (ऐ० उ० 4/4/19)

इत्यादि। आत्मा हमारी सत्ता का तथा समस्त प्राणियों की सत्ता का चरम सत्य है शंकराचार्य लिखते हैं कि ''आत्मा होने के कारण आत्मा का निराकरण संभव नहीं है। आात्मा बाहर की वस्तु नहीं है, वह तो स्वयं सिद्ध है। आत्मा, आत्मा के प्रमाणों से सिद्ध नहीं होती, क्योंकि प्रत्याक्षदि प्रमाणों का प्रयोग आत्मा अपने से भिन्न पदार्थों की सिद्धि में करती है। आत्मा तो प्रमाणादि व्यवहार का आश्रय है और प्रमाणों के व्यवहार से पहले ही सिद्ध है। आगन्तुक वस्तु का ही निराकरण होता है, न कि अपने रूप का। यह आत्मा तो निराकरण करने वाले का ही अपना स्वरूप है। अग्नि अपनी उष्णता का निराकरण कैसे कर सकती है।[23] शंकराचार्य का कथन है कि आत्मा 'सर्वदा वर्तमान स्वभाव' है उसका कभी अन्यथा भाव नहीं होता। प्रथम सूत्र की व्याख्या में ब्रह्म की सिद्धि भी इसी प्रकार की गयी है कि सब की आत्मा होने के कारण ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध ही है।[24]

आत्मा ही ब्रह्म है।

आत्मानुभव आत्मा के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। नैतिक साधन तथा अन्य साधन आत्मसिद्धि में सहायक हो सकते हैं, किन्तु कोई भी बाह्य साधन आत्मसिद्धि में सहायक नहीं हो सकता। यह एक अद्वैत भाव है जो केवल अनुभव साध्य है।[25] तथा अन्तिम सत्य का साक्षात्कार है जो अविद्या से आच्छन्न था।[26] प्रत्येक व्यक्ति को अपरोक्षरूप से अपने अस्तित्व का बोध है। सभी कहते हैं "मैं हूँ" यदि आत्मा का अस्तित्व अपरोक्ष रूप में सबको प्रत्यक्ष न होता तो सभी कहते, "मैं नहीं हूँ" जो साधारण अनुभव के विपरीत है। आत्मा हमारा वास्तविक स्वरूप है।[27]

स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण रूपी तीन प्रकार के शरीर से विलक्षण, अन्नमय, मनोमय, विज्ञानमय, प्राणमय एवं आनन्दमय पांच प्रकार के कोश से व्यतिरिक्त जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थात्रय के साक्षात्द्रष्टा सच्चिदानन्दरूप आत्मा है।[28]

नित्य प्रकाशस्वरूप सूर्य की भाँति, जिसको प्रकाशित करने के लिए

अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती, नित्य विज्ञानस्वरूप आत्मा की अवगति के लिए ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं है।[29]

समस्त व्यावहारिक ज्ञान विषय विषयी संबंधी हैं। अतः जो कुछ भी ज्ञेय है, वह विषय-रूप है। समस्त ज्ञान का आधारभूत तत्त्व होने के कारण आत्मा को व्यावहारिक ज्ञान का ज्ञेय (विषय) नही बनाया जा सकता। अतः यह ज्ञाता का स्वरूप ही है। इस का अन्य ज्ञाता नहीं हो सकता।[30]

यह आत्मानुभव समस्त भूतों के अन्तर्तम सत्य के रूप में अत्यन्त समीप है किन्तु अविद्या से आवृत तथा अज्ञानियों के लिए दुर्बोध होने के कारण अत्यन्त दूर भी है।[31] आत्मा न इन्द्रियों का विषय है, न मन का, न ही यह कर्म द्वारा प्राप्त हो सकती है क्योंकि कर्म फल अनित्य है आत्मा नित्य है।[32] लेकिन समस्त कर्मों को इस आत्मनुभव में आवश्यक रूप से सहकारी माना गया है।[33]

आत्मा के सच्चिदानन्दस्वरूप के ज्ञान से अविद्या दूर हो जाती है। अज्ञान अंहकार का मूल है और अंहकार समस्त अनर्थों का हेतु है। यथार्थ से अज्ञान और अंहकार दूर होते हैं। जब सच्चिदानन्द ब्रह्म का हमारी आत्मा के रूप में अनुभव होता है, तब समस्त भूतों का ब्रह्म के साथ अपृथक् तादात्म्य भाव का ज्ञान हो जाता है, तो विरोध और परत्व का सारा भाव जो जगत् के अखिल अनर्थ और सन्तापों का मूल है, नष्ट हो जाता है। कहा भी गया है जो आत्मा साक्षात्कार कर सकता है वह ब्रह्म के साथ अपना तादात्म्य अनुभव कर मुक्ति प्राप्त करता है।[34] याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को समझाते हुए कहते हैं - "आत्मा सभी आनन्दों का मूल स्रोत है। इसका यह प्रमाण है कि आत्मा से बढ़कर किसी को और कुछ प्रिय नहीं होता। मनुष्य किसी वस्तु या व्यक्ति को आत्मीय जानकर ही प्रेम करता है। कोई वस्तु स्वतः प्रिय नहीं होती। पत्नी इसलिए प्यारी नहीं होती कि वह पत्नी है पति इसलिये प्यारा नहीं होता कि वह पति है, पुत्र इसलिये प्रिय नहीं होता कि वह पुत्र है। धन भी स्वतः धन के लिये नहीं चाहा जाता। ये सब आत्मा ही के लिये प्रिय होते हैं। (बृ० उ० 4/5/6)

आत्मा अपने शुद्ध रूप में आनन्दमय है, यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि मनुष्य जब सुषुप्तावस्था में रहता है तब शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा मन से अपना सम्बन्ध भूल जाता है और अपने प्रकृत रूप में आकर, सुख-दुःख से परे, शान्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है।[35] सच्चिदानन्द ब्रह्म का आत्मा के रूप में अनुभव हो जाने पर जगत् में पूर्ण शान्ति तथा अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो जाती है, तब मनुष्य सब प्रपंच को आत्म रूप ही मानता है, तब मनुष्य को अद्वैत ज्ञान होने से शोक मोह नहीं रहता।[36] परमात्मस्वरूप ब्रह्म ही सर्वात्मक रूप से स्थित है।[37]

इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप का अनुभव ही आनन्द की आध्यात्मिक स्थिति है। इसी को अपरोक्षानुभूति, आत्मानुभूति तथा स्वानुभूति भी कहते हैं।

पंचकोश एवं आनन्द

आत्मा को ढक लेने वाले अविद्यकरूपों को कोश का नाम दिया गया है। आप्टे के अनुसार पांच कोश हैं, जो सब मिलकर शरीर की रचना करते हैं - जिसमें आत्मा निवास करती है, अन्नमय, प्राणमय आदि।[38]

MONIER WILLIAMS ने कोश शब्द का अर्थ किया है - a term for three sheath or succession of case which make up the various frames of the body enveloping the soul (these are the ananda maya or sheath of pleasure, forming the Karana Sarira or causal frame; the Vijnana-maya or budhi-maya, or mano-maya or prana-maya, the sheath of intellect or will or life, forming the sukshma-sarira or subt-le frame; the anna the sheath of nourishment forming the sthula sarira or gross frame.[39]

वेदान्त में कारण शरीर, सूक्ष्मशरीर एवं स्थूल शरीर के भेद से तीन प्रकार का शरीर माना गया है। इसके साथ ही साथ सुषुप्ति, जाग्रत एवं स्वप्न ये तीन अवस्थाएं एवं आनन्दमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय ये पंचकोश स्वीकार किए हैं। (वेदान्तसार पृ० 26)

तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्मानन्दवल्ली में 'कोश' नाम न देते हुए भी कुछ-एक स्तरों के साथ आत्मा का तादात्म्य कहते हुए अन्नरसमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय-नामों से 'पुरुष' या आत्मा के पांच रूप दर्शाये हैं।[40]

तैत्तिरीयोपनिषद् में ही इससे पहले सत्य-ज्ञान-अनन्त ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियां, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष की उत्पत्ति कही है। इसी पुरुष को अन्नरसमय नाम दिया है।[41] इसी के भाष्य में आचार्य शंकर ने कहा है - सृष्टि में सभी शरीर समान रूप से अन्न-रस के विकार हैं तथा ब्रह्म के वंश में उत्पन्न हुए हैं। उसमें से पुरुष शरीर को श्रेष्ठ शरीर कहा है, एवं इसी शरीर में विद्यमान आत्मा को विद्या द्वारा उसके अन्तरतम स्वरूप ब्रह्म का बोध कराना श्रुति का उद्देश्य है, अतः पुरुष को ही चुना है। परन्तु पुरुष की भी बुद्धि बाह्य, बाह्यकार विशेषरूप अनात्म-पदार्थों में आत्मभावना किए है, किसी विशेष आलम्बन के बिना अकस्मात् सबसे अन्तरतम प्रत्यागात्मा को नहीं जान सकती, और न ही निराश्रय होकर वस्तु तत्त्व को ग्रहण करने में समर्थ हो सकती है। इसीलिए शाखा-चन्द्र-दृष्टान्त से स्थूल से सूक्ष्म, व सूक्ष्मतर आलम्बन लेती हुई अभीष्ट तत्त्व पर्यन्त पहुंच सकती है। उनके अनुसार सबको दिखाई देने वाले अन्नादि के ग्रहण करने से पुष्ट होने वाले अपने शरीर में ही सबसे पहले अन्य जड़ वस्तुओं से पृथक् करते हुए, आत्मा की भावना कराई गई है। यह अन्न-रस-मय अर्थात् अन्न से ही बना रहने वाला, उसके बिना नष्ट हो जाने वाला, शरीर ही आत्मा का अन्नमय कोश तथा स्थूल शरीर है।

विवेक चूड़ामणि में आचार्य शंकर ने इस स्थूल शरीर में आत्मा न होने की भावना को अस्वीकार करते हुए कहा है कि यह शरीर जन्म से पूर्व और मृत्यु के बाद भी नहीं रहता, क्षण में जन्म लेता है, क्षणिक गुणवाला है और अस्थिर भाव है, तथा अनेक तत्वों का संघात, जड़ और घट के समान दृश्य है, काल का प्रभाव इसमें सभी को प्रतीत होता ही है। अतः सभी प्रकार

के विकार से युक्त होने के कारण यह आत्मा नहीं हो सकता। जिस प्रकार जल में दिखाई देते हुए छाया-शरीर में या दर्पण में दिखते हुए प्रतिबिम्ब शरीर मे तथा स्वप्न में दिखने वाले देह में आत्मबुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार इस जीवित शरीर को भी आत्मा मानना उचित नहीं।[42]

इस अन्नरसमय कोश के अन्दर प्राणमय कोश है। शांकर भाष्य में कहा गया है कि अनेक तुषा वाले धानों को तुषारहित करके जिस प्रकार चावल निकाल लिए जाते है, उसी प्रकार अन्नमय से लेकर आनन्दमय कोश-पर्यन्त सम्पूर्ण शरीरों की अपेक्षा आन्तरतम ब्रह्म को विद्या के द्वारा अपने प्रत्यगात्मरूप से दिखलाने की इच्छा वाला शास्त्र अविद्याकल्पित पांच कोशों का बाध करता हुआ - 'पूर्वोक्त अन्नरसमय पिण्ड से अन्य, व उसके भीतर रहने वाला आत्मा, जो अन्नसमय पिण्ड के समान मिथ्या ही आत्मा रूप से कल्पना किया हुआ है, प्राणमय है। जिस प्रकार वायु से धोंकनी भरी रहती है उसी प्रकार उस प्राणमय से यह अन्नरसमय शरीर भरा हुआ है। प्राण ही वायु है। अन्नमय कोश प्राणमय का देह है, यह उस देह में स्थित आत्मा है।[43]

विवेक चूड़ामणि में शंकराचार्य ने प्राणमय कोश का पूर्ण विवरण देते हुए कहा है कि पांच कर्मेन्द्रियों से युक्त यह प्राण ही प्राणमय कोश कहलाता है। जिससे युक्त हुआ अन्नमय सभी क्रियाओं में प्रवृत होता है।[44] किन्तु यह प्राणमय भी वायु का विकार है, वायु के समान ही बाहर-भीतर आने-जाने वाला है और नित्य परतन्त्र है। इसमें इच्छा व ज्ञान शक्ति नहीं है, जो चैतन्य के परिचायक है, अतः यह भी आत्मा नहीं है।[45]

प्राणमय कोश के भीतर रहने वाला प्राणमय शरीर वाला मनोमय आत्मा है शंकराचार्य का कथन है कि संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरण का नाम मन है, जो तद्रूप हो उसे मनोमय कहते हैं।[46]

विवेक चूड़ामणि में पंच ज्ञानेन्द्रिय सहित मन को मनोमय कोश कहा है वहां 'मैं' व 'मेरा' ऐसे विकल्प का हेतु है, जो नामादि भेद-कलनाओं के द्वारा जाना जाता है और बड़ा बलवान् है तथा पूर्व-कोशों को व्याप्त

करके स्थित है।[47] अर्थात् यह मनोमय ही जगत्-व्यवहार का मूल है, इसके विनाश से सम्पूर्ण विनष्ट हो जाता है। बन्ध-मुक्ति, जगत् सभी कुछ मनोमय की ही कल्पना है।

किन्तु यह भी आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि इसका भी आदि व अन्त है, पंचतन्मात्रओं से उत्पन्न होता है, उन्हीं में लीन भी होता है, अनात्मवस्तु का कार्य होने से वह जड़ ही है, अतः आत्मा नहीं है।[48]

मनोमय के भीतर विज्ञामय है। इसके भाष्य में शंकराचार्य ने कहा है कि जो निश्चयात्मिका बुद्धि है, उसी का नाम विज्ञान है, और वह अन्तः का अध्यवसाय रूप धर्म है। यह मनोमय के निष्पादक तत्त्वों के भी कारणभूत तत्त्व से निर्मित है, अतः मनोमय से अधिक सूक्ष्म है।[49] विवेक चूड़ामणि में कहा गया है - बुद्धिन्द्रियों के साथ वृत्तियुक्त बुद्धि ही कर्तापन के स्वभाव वाला विज्ञानमय कोश है, जो पुरुष के जन्म-मरणरूप संसार का कारण है।[50] भाष्य में कहे गये "बुद्धिविज्ञान" ही यहां बुद्धीन्द्रिय शब्द से कहे गए हैं, अभिप्राय निश्चयात्मक ज्ञान से ही है। चित्त और इन्द्रियादि का अनुगमन करने वाली चेतन की प्रतिबिम्बशक्ति ही 'विज्ञान' नामक प्रकृति का विकार है। वह ''मैं ज्ञान और क्रियावान् हूँ'' ऐसा देह-इन्द्रिय आदि में निरन्तर अभिमान करता है।[51] अर्थात् यह विज्ञानमय कोश ही चित्प्रतिबिम्ब से युक्त होकर संसारी आत्मा है, यही कर्म करता है और उनके फलों का भोग करता है।

यह अहंस्वभाव वाला विज्ञानमय कोश ही अनादिकालीन जीव और संसार के समस्त व्यवहारों का निर्वाह करने वाला है। और अपनी पूर्व-वासना से पुण्य-पापमय अनेक कर्मों को करता है और उनके फल भोगता है तथा विचित्र योनियों में विचरण करता हुआ कभी नीचे, कभी ऊपर जाता है। जाग्रत, स्वप्न आदि अवस्थाएं, सुख-दुःख आदि भोग, देहादि में आत्माभिमान, आश्रमादि के धर्म-कर्म तथा गुणों का अभिमान और ममता आदि सर्वदा इस विज्ञामनय कोश में ही रहते हैं। यह आत्मा की अतिनिकटता के कारण अत्यन्त प्रकाशमय है, अतः यह इसकी उपाधि है, जिसमें भ्रम से आत्मबुद्धि

करके यह जन्म-मरणरूप संसार चक्र में पड़ता है।[52] वह परात्मा स्वरूप से तो सदा एकरूप ही है फिर भी उपाधि सम्बन्ध से उसके गुणों से युक्त सा होकर उसी के धर्मों के साथ प्रकाशित होने लगता है, जिस प्रकार अविकारी अग्नि सदा एक-रूप होती हुई भी लोहे के विकारों में संसक्त होकर उन्हीं के समान आकृति' विकृति वाली हो हाती है।[53]

किन्तु यह भी आत्मा नहीं है, क्योंकि जिस जीवत्व की बुद्धि रूप उपाधि के सम्बन्ध से ही आत्मा में कल्पना हुई है, वह स्वरूप से उस आत्मा के पृथक् नहीं हो सकता। वो इसलिए कि बुद्धि के साथ यह आत्मा का सम्बन्ध मिथ्या ज्ञान के ही कारण है।[54] जिसकी निवृत्ति सम्यक् ज्ञान से ही सम्भव है।[55] विज्ञानमय आत्मा मलिन जल के समान है, जिसमें मलस्थानीय बुद्धि है और जल स्थानीय आत्मा। जड़वस्तु-घटित होने से विज्ञानमय रूप भी कोश ही है, आत्मा नहीं। क्योंकि विज्ञान परिच्छेद रूप है, दृश्य है, जड़ है, अतः उससे मिला हुआ अध्यस्त आत्मा वास्तव में शुद्ध आत्मा नहीं है।[56]

प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोश मिलकर जीव का सूक्ष्म या लिंग शरीर कहलाते हैं। विवेकचूड़ामणि में इसे "पुर्यष्टकमय" कहा है जिसमें (1) पंच कर्मेन्द्रिय (2) पंच ज्ञानेन्द्रिय (3) पंच प्राण (4) पंचतन्मात्राएँ (5) मन (6) बुद्धि (7) उद्भुत अविद्या (8) काम-कर्म-संगृहीत हैं। यही आत्मा की अनादि उपाधि है।[57]

श्रुति कहती है कि विज्ञामनय का भी अन्तर्वर्ती आत्मा आनन्दमय है।[58] आचार्य शंकर ने विवेकचूड़ामणि में आनन्दमय का विवरण करते हुए कहा है कि तमस् का, आत्मा के आनन्द पक्ष के प्रतिबिम्ब से युक्त रूप आनन्दमय कोश है, जिसका प्रकाश प्राणिमात्र के अपने प्रति व अपने अनुकूल के प्रति प्रियताबोध में होता है, पुण्य कार्य का संस्कार जगने पर सुखानुभव के रूप में प्रकट होता है। आनन्दमय कोश की शुद्ध स्फूर्ति सुषुप्तावस्था में सबसे अधिक स्पष्ट होती है। जाग्रत व स्वप्न में इष्ट-दर्शन आदि से आनन्दमय की क्षणिक स्फूर्ति होती है, वही हर्ष रूप में अनुभूत होती है।[59]

यह आनन्दमय भी सोपाधिक होने से वास्तविक आत्मा नहीं है। यहां साक्षात् अविद्या की उपाधि है, उसके कार्य नहीं। यही कारण-शरीर है। इस शरीर में स्थित, इससे पृथक् जो निषेधावधि अर्थात् जहां जाकर सभी निषेध समाप्त हो जाते हैं, स्वयं ज्योतिः, तीनों अवस्थाओं का साक्षी, बोध -स्वरूप आनन्दस्वरूप वस्तु है, वह आत्मा है।[60]

आत्मा पूर्ण रूप से विकार रहित अपरिवर्तनीय, अद्वितीय और अविनाशी है। उसमें न तो दुःखाभास है, न सुखाभास ही है। यह दुःख, सुख रूप जो कुछ भी भान होता है, उस सबका कारण अविद्या या अज्ञान ही है क्योंकि इसी के द्वारा सच्चिदानन्दघन, अखण्ड एक-रस परमात्मा में जीव भाव की कल्पना की जाती है।

यहां यह तथ्य भी उल्लेख योग्य है कि सच्चिदानन्दघन स्वरूप आनन्द के सम्बन्ध में विचार करते हुए मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि प्रथम काण्ड के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया है कि यह आनन्द दुःखाभाव रूप भी नहीं है, दुःखाभाव को लौकिक से जोड़ा जा सकता है, ब्रह्मानन्द से कदापि नहीं। इस प्रकार ब्रह्मानन्द दुःख एवं सुख दोनों से ही अतीत है।

सन्दर्भ :

1. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य। ब्रह्मज्ञानवल्ली
2. ब्रह्मैव सत्यं जगतः प्रतिष्ठा
   सर्वस्य मूलं परमार्थसत्ता
   आनन्दमेकं बहुरुप्यरूपं
   ज्ञानस्वभावं तमसः परस्तात्।। अद्वैतामृतसार 1/42
3. अविद्या निवृत्तिरेव मोक्षः, मुण्डकोपनिषद् शांकर भाष्य
4. ब्रह्मैव मुक्त्यवस्था। ब्र० सू० शा० भा० 3/5/52
5. शतश्लोकी, 74 पृ०-44
6. ज्ञाते द्वैतं न विद्यते   गौ० का० 1/18

7. ब्रह्मात्मैकत्वे जाते सति अविद्यानिवृत्तिः सर्वात्मना भवति,

आत्मानात्मविवेक 10

8. अविद्यापगममात्रत्वा ब्रह्मप्राप्ति फलस्य। वृ० उ० शा० भा० 1/4/10

फलं च मोक्षो विद्यानिवृत्तिर्वा। वृ० उ० शा० भा० 1/4/11

9. अज्ञान व्यवधाननिवर्तकत्वाज्ज्ञानस्य मोक्षो ज्ञानकार्यमित्युच्येत। ब्र० उ० शा० भा० 3/2/13

10. अविद्याया अपाय एवं हि परप्राप्ति। मु० उ० शा० भा० पृ० - 18

11. मु० उ० 2/2/8

12. ऐहिकानां स्रकचन्दनवनितादिविषय भोगानां कर्मजन्य तथाऽनित्यत्ववदा-मुष्मिकाणामप्यमृतादिविषय भोगानामनित्यतयातेभ्योनितरां विरतिरिहामुत्रार्थफल-भोगविरागः। वेदान्तसार, पृ० 6

13. ब्रह्म सू० शा० भा० 1/1/1

14. अध्यासं पण्डिता अविद्या इति मन्यन्ते। ब्र० सू० शा० भा० 1/1/1

15. श्री मद्भगवद्गीता, शा० भा० 5/22

16. वही 1/38

17. श्रीमद्भगवद्गीता, शांकर भाष्य 18, पृ० - 433

18. अन्तःकरणस्य परिणाम विशेषो वृत्तिः - वेदान्त परिभाषा परिच्छेद।

19. वेदान्तसार, पृ० - 99

20. वेदान्तसार, 28

21. वेदान्तसार, पृ० - 100 (चौखम्बा संस्करण)

22. चक्षुदीपावपेक्ष्येते घटादेदर्शने यथा

न दीपदर्शने, किन्तु चक्षुरेकमपेक्ष्यते। पंचदशी 7/931 वेदान्तसार 105

23. आत्मत्वाच्चात्मनो निराकरण शंकरनुपपत्तिः। न ह्यात्मा - गन्तुकः कस्यचित् स्वयंसिद्धत्वात्। न ह्यात्मात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति। तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्य-प्रसिद्धप्रमेयसिद्वयं उपादीयन्ते। ..... आत्मातु प्रमाणदिव्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति। आगन्तुकं हि

वस्तु निराक्रियते स्वरूपम्। य एव हि निराकर्ता तदैव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते। ब्र० सू० भाष्य 2/3/7

24. सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः - ब्र० सू० 1/1/1

25. अद्वैत भावः मोक्षः अद्वैत ज्ञानं मनोवृत्तिमात्रम् -छा० उ० शा० भा० 1/1/1

26. ज्ञान लोभयोरेकार्यत्वस्य विवक्षितत्वात्
तस्मात् ज्ञानमेवात्मनो लाभः अविद्यामात्रंव्यवधानम्-बृ० उ० 1/4/7

27. आत्मा च नामस्वरूपम् - ब्र० सू० शा० भा० 1/1/1

28. आत्मा नाम स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरत्रयविलक्षणः
पञ्चकोषव्यतिरिक्तःअवस्थात्रयसाक्षी सच्चिदानन्दस्वरूपः।
आत्मानात्मविवेक, 21

29. नित्य प्रकाशस्वरूपरूप इव सविता नित्य
विज्ञानैकरसघनत्वान्न ज्ञानान्तरमपेक्षत-मा० का० भा० 3/33

30. यो हि ज्ञाता स एव सः सर्वात्मकत्वात्। अतः सर्वात्मनोज्ञातुः
-के० उ० भा० 1/3

31. तदन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्वात् - ई० उ० शा० भा० 5

32. आत्मानित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो द्वयो वा
- तै० उ० भा० 1/1/1

33. उपेक्षेते तु विद्या सर्वाणयांश्रम कर्माणि-ब्र० सू० शा० भा० 3/4/36

34. भारतीय दर्शन, सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, पृ०-364

35. भारतीय दर्शन, सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, पृ०-365

36. अयमात्मा हि ब्रह्मैव सर्वात्मकतया स्थितः।। इति निर्धारितं श्रुत्याबृहदारण्यसंस्थ्या।
अपरोक्षानुभूति 55

37. आत्मा प्रकाशकः स्वच्छो देहस्तामस उच्यते। तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्। अपरोक्षानुभूति 20

38. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ०-306

39. Sanskrit English Dictionary, Sir Monier Williams. P-314.

40. औषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।।

....तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः।

तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव । .. 2 ।। . . . . .

प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः स वा एष पुरुषविध एव . . . . 3 ।। ...

मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः । .. 4 ।। ..

विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः । .. 5 ।। —तै० उ० 2/1-5 ।।

41. तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः । अग्नेराप :। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या औषधयः। तै० उ० 2/1

42. पूर्वं जनेरपि मृतेरपि नायमस्ति

जातःक्षणं क्षणगुणोऽनियतस्वभावः।

नैको जड़श्च घटवत्परिदृश्यमानः

स्वात्मा कथं भवति भावविकारवेत्ता।।

छायाशरीरे प्रतिबिम्बगात्रे

यत्स्वप्नदेहे हृदि कल्पिताङ्गे

यथात्मबुद्धिस्तव नास्ति काचि-

ज्जीवच्छरीरे च तथैव मास्तु।। विवेक चूड़ामणि 157, 165

43. शास्त्रमविद्याकृतपञ्चकोशापनयेनाकतुषकोद्रव -

वितुषीकरणेनैव तदन्तर्गततण्डुलान् प्रस्तौति......

तै० उ० शा० भा०, पृ०- 127-128

44. कर्मेन्द्रियैः पञ्चभिरञ्चितोऽयं

प्राणो भवेत्प्राणमयस्तु कोशः।

येनात्मवानन्नमयोऽन्नपूर्णः

प्रवर्ततेऽसौ सकलक्रियासु।। वि० चू० 167

45. नैवात्मापि प्राणमयो वायुविकारो

गन्तागन्ता वायुवदन्तर्बहिरेषः।

यस्मात्किञ्चित्क्वापि न वेत्तीष्टमनिष्टं

स्वं वान्यं वा किञ्चन नित्यं परतन्त्रः।। वि० चू० 168

46. मन इति संकल्पाद्यात्मकमन्तःकरणं तन्मयो मनोमयः।

तै० उ० शा० भा० पृ० - 133-34

47. ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्यात्
कोशो मयाहमिति वस्तुविकल्पहेतुः।
संज्ञादिभेदकलनाकलितो बलीयान्
तत्पूर्वकोशमनुपूर्य विजृम्भते यः।। वि० चू०169

48. मनोमय नापि भवेत्परात्मा
ह्याद्यन्तवत्त्वात्परिणामिभावात्।
दुःखात्मकत्वाद्विषयत्वहेतो -
द्रष्टा हि दृश्यात्मतया न दृष्टः ।। वि० चू०, 185

49. ....बुद्धिनिश्चयात्मिका विज्ञानं तच्चाध्वसायलक्षण मन्तःकरणस्य धर्मः।
तन्मयो निश्चयविज्ञानैः प्रमाणस्वरूपैर्निवर्तित आत्मा विज्ञानमयः.......
सर्वबुद्धिविज्ञानानां च महतत्त्वं कारणम। तै० उ० शा० भा० 138-40

50. बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्धं सवृत्तिः कर्तृलक्षणः।
विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसारकारणम्। वि० चू० 186

51. अनुव्रजच्चित्प्रतिबिम्बशक्ति -
र्विज्ञानसज्ञः प्रकृतेर्विकारः।
ज्ञानक्रियावानहमित्यजस्रं
देहेन्द्रियादिष्वभिमन्यते भृशम्। वि० चू० 187

52. भुङ्क्ते विचित्रास्वपि योनिषु व्रज -
न्नायाति निर्यातवध उर्ध्वमेषः।
अस्यैव विज्ञानमयस्य जाग्रत।
स्वप्नाद्यवस्था सुखदुःखभोगः।
देहादिनिष्ठाश्रमधर्मकर्म -
गुणाभिमानं सततं ममेति।
विज्ञानकोषोऽयमतिप्रकाशः।
प्रकृष्टसान्निध्यवणात्परात्मनः।
अतो भवत्येष उपाधिरस्य

यदात्मधीः संसरति भ्रमेण।। वि० चू० 189 - 90

53. उपाधिसम्बन्धवशात्परात्मा
ह्युपाधिधर्माननु भाति तद्गुणः।
अयोविकारानविकारिवह्निव -
बत्सदैकरूपोऽपि परः स्वभावात्।। वि० चू० 193

54. सम्बन्धः स्वात्मनो बुद्ध्या मिथ्याज्ञानपुरस्सरः।
विनिवृत्तिर्भवेत्तस्य सम्यग्ज्ञानेन नान्यथा।। वि० चू० 203:4

55. ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्यग्ज्ञानं श्रुतेर्मतम्।। वि० चू० 204

56. जल पङ्कवदत्यन्तं पङ्कापाये जलं स्फुटम्।
अतो नायं परात्मा स्याद् विज्ञानमयशब्दभाक्।।
विकारित्वाज्जडत्वाच्च परिच्छिन्नत्वहेतुतः।
दृश्यत्वात् व्यभिचारित्वान्नानित्यो नित्य इष्यते।। वि० चू० 206 - 8

57. वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च प्राणादिपञ्चाभ्रमुखानि पञ्च।
बुद्ध्याद्यविद्यापि व कामकर्मणां पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः। वि० चू० 98 58.
तस्माद वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽनन्दमयः।
तेनैष पूर्ण। स वा एष पुरुषविध एव। तै० उ० 2/5/1

59. आनन्दप्रतिबिम्बचुम्बिततनुर्वृत्तिस्तमोजृम्भिता।
स्यादानन्दमयः प्रियादिगुणकः स्वेष्टार्थलाभोदयः।।
पुण्यस्यानुभवे विभाति कृतिनामानन्दरूपः स्वयम्।
भूत्वा नन्दति यत्र सार्धुतनुभन्पात्रः प्रयत्नं बिना।।
आनन्दमयकोशस्य सुषुप्तौ स्फुतिरूत्कटा।
स्वप्नजागरयोरीषदिष्टसन्दर्शनादिना।। वि० चू० 209 - 10

60. नैवायमानन्दमयः परात्मा सोपाधिकत्वात् प्रकृतेर्विकारात्।
कार्यत्वहेतोः सुकृतक्रियाया विकारसङ्घातसमाहितत्वात्।। वि० चू० 211

चतुर्थ अध्याय
शांकर वेदान्त में आनन्द का स्वरूप – दार्शनिक दृष्टि

यों तो लोक में आनन्द की अवधारणा अत्यन्त प्रचलित है। किन्तु आनन्द की लौकिक एवं साहित्यिक तथा दार्शनिक अवधारणा में अन्तर है। जहां आनन्द की लौकिक अवधारणा के अन्तर्गत इन्द्रिय सुख गृहीत होता है, वहां साहित्यिक अवधारणा से भावात्मक आनन्द का आशय है। काव्यानन्द भावानन्द का ही परिष्कृत रूप है। यद्यपि काव्यानन्द को ही 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायंलब्ध्वानन्दी भवति' कहकर आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द के समकक्ष प्रतिष्ठित किया गया है। किन्तु हमारे विचार से काव्यानन्द की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि होती है, किन्तु आध्यात्मिक आनन्द में जो शाश्वतता परमार्थता तथा आनन्द की सगणता होती है, उसका लौकिक आनन्द एवं काव्यानन्द में अभाव होता है। अतएव आनन्दस्वरूप ब्रह्म को सच्चिदानन्दमय कहा है, लौकिक आनन्द तथा काव्यानन्द को नहीं। यह संकेत प्रथम अध्याय के अन्तर्गत भी किया जा चुका है। आनन्द की यह आध्यात्मिकता का दार्शनिक दृष्टिफल से विचार करने पर ही आनन्द जीवन का शाश्वत एवं परमार्थ मूल्य सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त जगत् आदि तत्त्व शांकर वेदान्त की दृष्टि से विचार करने पर मिथ्या सिद्ध होते हैं। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' (ब्र० सू० शा० भा०) अर्थात् ब्रह्म ही एक मात्र परमार्थ सत्य है। संसार मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं। अतः शांकर दर्शन के अनुसार आनन्द एक परमार्थ एवं चरम सत् के रूप में सिद्ध होता है।[1]

ब्रह्म एवं आनन्द

शंकराचार्य का विचार है कि ब्रह्मत्व के सर्वाधिक महान् होने के कारण ही इसे ब्रह्म शब्द से अभिहित किया गया है।[2] उनके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, अन्य सभी तत्त्व ब्रह्म पर आधारित है और ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर उनका पृथक् अस्तित्व लुप्त हो जाता है। रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत आदि दृष्टान्तों का प्राचुर्य इस निष्कर्ष को निःसंदिग्ध रूप से प्रमाणित कर देता है कि इस अद्वैत वेदान्त का सर्वप्रथम मान्य सिद्धान्त मात्र ब्रह्म का अस्तित्व है।

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म शब्द में 'वृह्' धातु के अनुगम होने से व्युत्पत्ति-सिद्ध ब्रह्म शब्द से नित्यत्व, शुद्धत्व आदि अर्थ प्रतीत होते हैं।[3]

शंकराचार्य ने ब्रह्म सूत्र भाष्य में अद्वैत ब्रह्म की परिभाषा इस प्रकार दी है- "नाम रूप के द्वारा अव्यक्त, अनेक कर्त्ताओं एवं भोक्ताओं से संयुक्त, ऐसे क्रिया और फल के आश्रय जिसके देश, काल और निमित्त व्यवस्थित हैं, मन से भी जिसकी रचना के स्वरूप का विचार नहीं हो सकता, ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है।[4] शंकराचार्य द्वारा की गई इस परिभाषा के अनुसार ब्रह्म की विशेषताएँ - सर्व व्यापकता, अधिष्ठानता, सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही शांकर वेदान्त का सर्वोच्च तत्त्व है।[60]

आचार्य ने ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करने के लिए दो लक्षणों को स्वीकार किया है। एक तो स्वरूप लक्षण, दूसरा तटस्थ लक्षण। ब्रह्म ही जगत् का उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। आगन्तुक गुणों के समावेश करने के कारण यह उसका तटस्थ लक्षण है तथा ''सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म'' (तै० उ० 2/1/1) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० 3/9/28) ब्रह्म के स्वरूप प्रतिपादक लक्षण है। वह सत्, चित् और आनन्द रूप है, यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है।

शांकर अद्वैतवाद के अनुसार अद्वैततत्त्व ब्रह्म को निर्गुण स्वीकार किया गया है। फिर आचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का प्रतिपादन विस्तार से किया है। शंकराचार्य ने सगुण ब्रह्म की स्थापना का प्रयोजन उपासना को बतलाया है। (छा० उ० शा० भा० 8/1/1) ब्रह्म का कर्त्तृत्व और सृष्ट्रत्व आदि से सम्पन्न सगुण रूप अविद्या पर आधारित है। ब्रह्मसूत्र में इस का वर्णन इस प्रकार आया है कि निर्गुण ब्रह्म विद्या का विषय है और सगुण ब्रह्म अविद्या का।[5] वह सगुण ईश्वर समस्त प्राणियों को अपनी माया से भ्रमित करता हुआ समस्त प्राणियों के हृदय में वर्तमान रहता है, स्वयं अपनी माया से स्पष्ट नहीं होता।'' (ब्र० सू० शा० भा० 2/1/9) इस प्रकार सगुण ब्रह्म की कल्पना उपासना के निमित्त व्यावहारिक दृष्टि से ही की गई है। पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण है। उसके ऊपर जीव का या जगत् का कोई भी गुण आरोपित नहीं किया जा सकता। शंकर के मत में यह ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत इन तीनों भेदों से रहित होता है।

शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में ब्रह्म नामक जो सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की हे, वह सत्ता भूत, भविष्यत एवं वर्तमान इन तीनों कालों में अबाधित रूप से वर्तमान रहती है। (ब्र० सू० शा० भा० 4/3/14) जैसा कि वेदान्त परिभाषाकार का कथन है, यद्यपि यह ब्रह्म तत्व कोई द्रव्य रूप सत्य नहीं परन्तु फिर भी यह समस्त जगत् का अधिष्ठान है। समस्त चेतन एवं अचेतन, सामान्य एवं विशेष समस्त वस्तुओं का एक महा-सामान्य ब्रह्म में ही अन्तर्भाव होता है। ब्रह्म का अस्तित्व बड़ा विलक्षण है, सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु देश-कालातीत होने के कारण ब्रह्म का अस्तित्व किसी भी स्थान पर नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वह एक ऐसा सूक्ष्म तत्त्व है जिसका निर्देश वाणी एवं मन के द्वारा असम्भव है परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिए कि वह अभाव रूप है। केनोपनिषद् में कहा है, जिसे वाणी कह नहीं सकती पर जिसकी सहायता से वाणी बोलती है, वही ब्रह्म है (के० उ० 1/4)

जहां तक ब्रह्म एवं आनन्द का प्रश्न है, आचार्य ने आनन्दवाद के जिस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है, वह सर्वथा उपनिषदों पर आधारित है। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है।(तै० उ० 2) सत् होने के कारण उसे शून्य एवं अभावात्मक नहीं कहा जा सकता, वही सारे दृश्यमान् जगत् को प्रकाशित करने वाला, स्वयं प्रकाश, अनन्त, अद्वितीय, अखण्ड, अनादि, अविनाशी है, वही आनन्दस्वरूप है। केवल्योपनिषद् में कहा है ''चिदानन्दरूपमद्भुतम्'' अर्थात वह चिन्मात्र है, चिदानन्द है, चिद्घन है।[70] वह सत्य, ज्ञान, आनन्द स्वरूप है, रस व सुख वही है।[71]

विवेकचूड़ामणि में ब्रह्म स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है कि परब्रह्म सत्, अद्वितीय, शुद्ध, विज्ञानघन, निर्मल, शान्त, आदि-अन्त रहित, अक्रिय और सदैव आनन्दस्वरूप है[8] वह समस्त मायिक भेदों से रहित, नित्य, सुखस्वरूप, कलारहित, प्रमाणादि का अविषय तथा वह कोई अरूप, अव्यक्त, अनाम और अक्षय तेज है जो स्वयं प्रकाशित हो रहा है।[9]

अद्वैतामृतसार में भी उल्लिखित है कि ब्रह्म सत्, आनन्द तथा स्वयंपूर्ण है। संसार के सृजन, पालन और लय से अविकृत तथा कर्तृत्व व भोक्तृत्व से वर्जित सभी का आश्रय वही एकमात्र निदान है।[10]

जीवों का पारमार्थिक लक्ष्य वह निर्विकल्प ब्रह्म समस्त वस्तुओं में रहता हुआ भी समस्त लिंग विशेष से अतीत है। समस्त आकृतियों और रूपों का मूल होने पर भी वह स्वयं अमूर्त, सर्वज्ञ, आनन्दमय व नित्य है। (अद्वैतामृतसार 2/40) परात्पर ब्रह्म सनातन पर सत् है। वही सत् वस्तुओं की पारमार्थिक सत्यता है। वह अनन्त, आनन्दमय, निराकार और समस्त द्रव्यों का प्रकाशन है।(अद्वैतामृतसार 1/38)

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म एवं आनन्द पृथक् न होकर अद्वैत स्वरूप तथा एक ही है। उपनिषद् वेदान्त भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है कि ब्रह्मानुभव-कर्ता स्वयं ब्रह्मस्वरूप अर्थात् आनन्द स्वरूप हो जाता है "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"।

सत् चित् एवं आनन्द

ब्रह्म के सत् चित् एवं आनन्द स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते समय यह संकेत करना अपेक्षित है कि शांकर वेदान्त का ब्रह्म न बौद्धों के शून्यवाद की तरह शून्य है, न असत्, न जड़ और न अनुभव शून्य। अतएव उपनिषद वेदान्त में ब्रह्म को सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप कहा है। सत् स्वरूप के कारण ब्रह्म सूक्ष्म परमार्थ-स्वरूप सत् है, चित् होने के कारण उसे जड़ नहीं कहा जा सकता तथा उसके आनन्द-स्वरूप होने के कारण उसे अनुभव-शून्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार अपनी सच्चिदानन्द स्वरूपता के कारण ब्रह्मतत्त्व अनुभव स्वरूप तथा परमार्थ सत्य सिद्ध होता है।

छान्दोग्योपनिषद् के भाष्य में आचार्य शंकर ने सत्त्व की व्याख्या की है कि अन्न-जल आदि कार्यों के द्वारा उनके कारण को खोजा जाता है, नाश-उत्पत्ति वाला होने से तेज भी अपने कारण का गमक है। उसके भी ऐसे मूल को खोजना चाहिए जो परमार्थतः सत्य सद्-रूप है। जैसे मृत्तिका के आश्रय बिना घटादि की सत्ता व स्थिति है ही नहीं, उसी प्रकार स्थावर-जंगमरूप सम्पूर्ण प्रजा का भी मूल कारण एवं आयतन सत् ही है, भले ही नामरूपात्मक जगत् स्वयं रज्जु में प्रतीयमान सर्प के समान अध्यस्त ही हो, किन्तु सर्वथा निराधार तो कल्पना भी नहीं हो सकती। जिनका मूल स्थान सत् है उनका आयतन भी सत् है और उनकी परिसमाप्ति भी सत् ही है।[11]

वह जो सत् है वह आत्मा ही है, उसी से समस्त जगत् आत्मावान् है। वह सत् कारण ही परमार्थ सत् है, सत्य है। वह आत्मा ही जगत् का प्रत्यक्-स्वरूप-सतत्त्व अर्थात् याथात्म्य है, बाह्य नामरूप तो नश्वर विकार मात्र हैं।[12]

भगवान् शंकराचार्य ने तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य में ''सत्यं'' शब्द की व्याख्या में कहा है-जो पदार्थ जिस रूप में निश्चित किया है, अनुभूति का

विषय बनता है, यदि वह उस रूप को कभी न त्यागे, उससे व्यभिचरित न हो तो वह सत्य कहलाता है।[13] निश्चित शब्द के प्रयोग में स्वयं प्रकाशता का अर्थ भी निहित है, क्योंकि जो वस्तु जिसके द्वारा प्रकाशित होगी उसके अधीन होगी, साथ में जो स्वयं प्रकाश नहीं वह स्वरूप से उपलब्ध नहीं होगी, अतः उसका स्वरूप अनिश्चित होगा। फिर ''अनन्त'' पद की व्याख्या में कहा है कि अनन्तता तीन प्रकार ही होती है – देश से, काल से और वस्तु से। जैसे आकाश देशतः अनन्त है, देश का परिच्छेद उसमें नहीं है, किन्तु काल से और वस्तु से आकाश की अनन्तता नहीं है, क्योंकि वह कार्य है। किन्तु आकाश के समान किसी का कार्य न होने के कारण ब्रह्म का इस प्रकार काल से भी अन्तवत्व नहीं है। जो वस्तु किसी का कार्य होती है वही काल से परिच्छिन्न होती है। तथा जिनका कभी नाश होने की सम्भावना है।[14] ब्रह्म किसी का कार्य नहीं है इसलिए वह काल से भी अनन्त है। ब्रह्म वस्तु सीमा की अपेक्षा से भी अनन्त है, क्योंकि वह सबसे अभिन्न है। भिन्न वस्तु ही किसी अन्य भिन्न वस्तु का अन्त हुआ करती है। एक वस्तु – विषयक ज्ञान प्रसक्त दूसरी वस्तु के ज्ञान से निवृत्त हो जाता है। जिस पदार्थ सम्बन्धिनीं बुद्धि की जिस पदार्थ से निवृत्ति होती है वह उस पदार्थ का अन्त है। जिस प्रकार गोत्वबुद्धि अश्वत्वबुद्धि से निवृत्त होती है, अतः गौत्व का अन्त अश्वत्व हुआ, इसलिये वह अन्तवान् ही है और उसका वह अन्त भिन्न पदार्थों में ही देखा जाता है। किन्तु ब्रह्म का ऐसा कोई भेद नहीं है। अतः वस्तु से भी उसकी अनन्तता है।[15] वह सभी से अनन्य है, क्योंकि सभी का कारण है। ''काल'' व ''आकाश'' जैसी व्यापक वस्तुओं का भी वह कारण है। यह नहीं कहा जा सकता कि नाना कार्यो की अपेक्षा से ब्रह्म में वस्तु – परिच्छेद आ जाता है, क्योंकि कार्यवस्तु अनृत है और ब्रह्म ही सत् है।[16] ब्रह्म किसी का कार्य नहीं, लोक में जो एक सर्वगत वस्तु है वह भी उसी से उत्पन्न हुई है।[17] निरतिशय अनन्तता होने से आत्मा में निरतिशय सत्यता है।[18] और तत्वतः उसी में सत्यता है, अतः सत्यत्व उसका स्वरूप है।[19]

सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक में कहा है कि जो कुछ दृश्यमान् है, इस सबका तत्व सत् ही है, यह तथ्य प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम से भी सिद्ध होता है।[20] परस्पर व्यावृत अनन्त असाधारण रूपों में, सभी में जो एक आभासमान है, वही इन सबका कारण है, और वह सत् है।[21] कारण सत् होने से सभी कुछ यदि सदात्मक है तो सर्वदा उपलब्ध क्यों नहीं होता, ऐसा सन्देह होने पर उत्तर दिया है कि विद्यमानता-मात्र-अभिव्यक्ति की प्रयोजक नहीं। सत् ही वस्तु अभिव्यक्त तथा अव्यक्त दोनों रूपों से रह सकती है।[22] जो उपलब्ध हो वही सत् है, यह नियम नहीं है। तथा पृथक् कार्यों के रूप में सर्वदा अभिव्यक्ति न रहने पर भी 'सत' रूप से सर्वदा अभिव्यक्ति रहती है। 'सत' का भान कभी निवृत्त नहीं होता।

जो भी अभिव्यक्त या प्रकाशित होता है, वह अपने कारण की सत्ता के बल से ही प्रकाशित होता है। जो नहीं है उसका ज्ञान नहीं होता जैसे नृश्रृंग या बन्ध्यापुत्र कभी जाना नहीं जाता। प्रकट होने की सत्ता अवश्य अपेक्षित है।[23] जो सभी कुछ का कारण है उसे अवश्य ही सत् मानना होगा।

सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेप शारीरक में परमतत्त्व के स्वरूप में ''नित्य'' ''सत्य'' तथा सत् इस प्रकार पृथक-पृथक विशेषण एक ही वाक्य में दिए है।[24]

आचार्य गौड़पाद द्वारा माण्डूक्यकारिका में ब्रह्म के प्रति अभिन्न रूप से कहे गये विशेषण ''ज्ञानालोकम्'', ''अनिद्रम'', ''अस्वप्नं'' (मा० का० 1/6), ''सुकृद-विभातं'', ''सर्वज्ञं'' (मा० का० 3/35, 36), ''सकृज्ज्योति'' (मा० का० 3/37) इत्यादि ब्रह्म के चित्-स्वरूप के प्रतिपादक हैं। इनसे चित् के प्रमुख रूप से दो अर्थ जाने जाते हैं -ज्ञान एवं प्रकाश। ''तुरीय तत्त्व'' सदा ''सर्वदृक्'' है, ''अनन्यदृक्'' है तथा ''देव'' है, अर्थात् स्वयं ही प्रकाश-स्वरूप होने के कारण, वह किसी अन्य प्रकाश द्वारा प्रकाशित नहीं होता एवं उसके प्रति सर्वदा सब कुछ प्रकाशित है (मा० का० 1/10/12)।

भगवान् शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में जगत् की दृष्ट नियमितता को हेतु बनाकर इसके मूल का चैतन्य या चित् होना सिद्ध किया है। शंकराचार्य ने चैतन्य के अर्थ जीवनतत्त्व, ज्ञान तथा प्रकाश तीनों ही लिये है। ब्रह्म के प्रति जो ''शुद्ध'' तथा ''बुद्ध'' विशेषण दिए गए हैं, चित् पक्ष के ही समर्पक हैं।[25]

शांकर वेदान्त का आधार उपनिषदें हैं। आचार्य शंकर ने उपनिषदों के अनुसार ही ब्रह्म को आनन्द-स्वरूप स्वीकार किया है। शंकराचार्य के अनुसार निरतिशयानन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ही शंकराचार्य ने विज्ञान को आनन्द से अभिन्न बताया है और उसे ब्रह्म का स्वरूप कहा है (बृ० उ० शा० भा० 3/9/28)। यह परम आनन्द परमात्मा से अभिन्न परिपूर्ण एवं स्वाभाविक है। यह आनन्द लौकिक विषयों के आनन्द से पृथक् एवं उत्कृष्ट परम स्तर का है। छान्दोग्यश्रुति ''यो वै भूमा तत् सुखम्'' के व्याख्यान् में आनन्द की परिपूर्णता, निरतिशयता बताई गई है। इस आनन्द से ही समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है, आनन्द का लेश पाकर ही ये सब प्राणी जी रहे हैं, अन्त में आनन्द में ही उनका पर्यवसान हो जाता है (तै० उ० शा० भा० 3/6/1)। अत: वह परब्रह्म परमात्मा रस-स्वरूप है, वही वास्तविक आनन्द है, उस रस के लेश से ही यह सारा संसार सजीव देखा जाता है (तै० उ० 2/7/1)। शंकराचार्य के अनुसार वास्तविक सुख का स्वरूप अभेदात्मक ब्रह्म ही है और वह अपने आप में ही प्रतिष्ठित है।

शंकराचार्य के अनुयायी मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि में ब्रह्म के आनन्दत्व पक्ष की विवेचना की है। मंगलाचरण में ही ब्रह्म का प्रथम विशेषण आनन्द है। उनके अनुसार ब्रह्मरूपी आनन्द भावरूप है, अभाव रूप नहीं, क्योंकि जागतिक आनन्द की भावरूप में ही प्राप्ति होती है। इतने समय ''मैं दु:खी न था'' ऐसी अनुभूति न होकर ''मैं सुखी था'' ऐसी अनुभूति होती है। ''यह प्राप्त होने से मुझे दु:ख न हुआ तथा यह मिलने से मुझे सुख हुआ'' इन प्रतीतियों में बहुत अन्तर है। वह जागतिक आनन्द ब्रह्मानन्द का

ही अत्यन्त क्षुद्रतम अंश अथवा आभास होने के कारण ब्रह्मानन्द भाव-रूप ही है। दूसरा उपनिषदों में आत्मा को पुत्र-मित्र कलत्र इत्यादि सभी से प्रिय कहते हुए परम प्रेम का निदान कहा गया है। यह आत्म प्रेम ही आनन्द है, इसलिए आनन्द भी भाव-रूप ही होना चाहिए।[26]

यह आनन्द ब्रह्म-स्वरूप है, कोई गुण या धर्म नहीं। सर्वप्रकाश चैतन्यमय ब्रह्म सुख-रूप है यही ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' श्रुति का तात्पर्य है। ये आनन्द व विज्ञान भिन्न-भिन्न वस्तुएं नहीं है। दोनों संज्ञाएं एक साथ देने का अभिप्राय ब्रह्म का जड़ वस्तु व दुःख-स्वरूपता से भेद दिखाना ही है।[27]

पदमपादाचार्य ने भी पंचपादिका में आनन्द को ब्रह्म से अपृथक् किन्तु पृथक् के समान अवभासमान धर्म कहा है।[28]

सर्वज्ञमुनि ने संक्षेपशारीरक में आत्मा की सुख स्वरूपता की सिद्धि प्रत्येक प्राणी को स्वयं के प्रति सर्वाधिक प्रियता के अनुभव तथा सुषुप्तिकालीन सुखनुभाव के द्वारा अत्यन्त स्पष्ट रूप से की है। उनका कथन है कि अपने आप के प्रति कृमि तक का अनुपाधि (स्वाभाविक) प्रेम देखा जाता है। उनकी भी अभिलाषा होती है-मेरा अभाव कभी न हो, सदा बना रहूँ। इसी लिए वे कड़ी धूप से अपनी रक्षा करने के लिए छाया की ओर भागते हैं, वर्षा और शीत से बचने के लिए विवरों एवं कन्दराओं की शरण लेते हैं, इस प्रकार आत्मा में स्वाभाविक प्रेम देखा जाता है, इसी से आत्मा को सुख-स्वरूप मानना पड़ता है तथा सुषुप्ति में जिसका अनुभव करके जागने पर उसका स्मरण सभी को होता है, वह सुख निश्चय ही अन्य कुछ नहीं आत्मा ही है, क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त कुछ सुषुप्त दशा में रहता नहीं।[29]

विमुक्तात्मा चित्सुखाचार्य विद्यारण्य मुनि के अनुसार भी आत्मा ही वस्तुतः आनन्द है जिसका वर्णन प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। ''अयमात्मा ब्रह्म'' श्रुति के अनुसार यह आत्मा ही ब्रह्म है। छान्दोग्योपनिषद में भी ऋषि कहता है- (एष में आत्मान्तर्हृदये एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभविता

स्मीति) अर्थात् ''यह मेरे भीतर हृदय में जो आत्मा है, यह ब्रह्म है, मैं यहां से मरकर इसी को प्राप्त होऊंगा।''

यहां निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सत्, चित् एवं आनन्द ब्रह्म के स्वरूप के अस्तित्व की समन्वित व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। सत् ब्रह्म के अस्तित्व का सूचक है, इससे ब्रह्म को शून्य के समकक्ष नहीं कहा जा सकता। चित् ब्रह्म तत्त्व की चेतनता का परिचायक है, चेतनता के कारण परमतत्त्व की जड़रूपता का स्वतः निराकरण हो जाता हैं जहां तक ब्रह्म की आनन्दस्वरूपता का प्रश्न है, ब्रह्म एक आनन्द स्वभाव तत्त्व है। इस आधार पर ब्रह्मानुभूति की आनन्द-स्वरूपता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इससे इस तथ्य की भी पुष्टि होती है कि वेदान्त का ब्रह्म तत्त्व कोई अनुभवरहित तत्त्व नहीं है। इस प्रकार सत, चित एवं आनन्द रूप से ब्रह्म तत्त्व का प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त की एक उत्कृष्ट देन है।

जीव एवं आनन्द

शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म में अभेद माना है, तदनुसार जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, वह परमार्थतः ब्रह्म-रूप ही है। श्रुतियों में जीव को (अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणः-कठ० 30/10) अज-नित्य-अविकारी कहा गया है।,[30] तथा अविकृत ब्रह्म को ही शरीर में जीव-रूप से अवस्थित माना गया है।[31] अयमात्मा ब्रह्म (बृ० उ० 2/5/19), तत्वमसि (छा० उ० 6/8/71), अहंब्रह्मास्मि (बृ० उ० 1/4/10) अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूं, तुम वही 'ब्रह्म' हो इत्यादि श्रुतियां स्पष्ट रूप से जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन कर रही है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शंकराचार्य जीव और ब्रह्म के औपाधिक भेद को भी नहीं मानते। इनके औपाधिक भेद का प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं कि जैसे उपाधि परिच्छिन्न घटाकाश से अनुपाधिक अपरिच्छिन्न आकाश भिन्न है, वैसे ही अविद्याकल्पित कर्त्ता भोक्ता विज्ञानाख्य जीव से परमेश्वर भिन्न है।[32] अन्तराधिकरण के ''अनवस्थितेतरसंभवाच्च नेतरः'' इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य का कहना है कि यद्यपि विज्ञानात्मा जीव परमात्मा से अनन्य ही

है तथापि अविद्याकृतमर्त्यत्व तथा भय के अध्यारोप के कारण उसमें अमृतत्व तथा अभयत्व की उपपत्ति नहीं होती।[33] इसी तरह देहाधिकरण भाष्य में शंकराचार्य का कहना है कि अविद्या प्रयुक्त स्वरूप ज्ञान के कारण जीव नानाविध क्लेशपाशों से बद्ध होकर त्रिविध तापों का भोजन-सा बना रहता है। स्थाणु में पुरुष बुद्धि के समान द्वैतलक्षणा अविद्या के कारण जब तक जीव को अपने कूटस्थ, नित्य तथा दृक्स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक जीव का जीवत्व है। जब जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, जब वह यह जान लेता है कि वह देहेन्द्रिय मनोबुद्धि का संघात नहीं है किन्तु चैतन्य स्वरूप आत्मा है, तब वह कूटस्थ, नित्य, दृक्स्वरूप आत्मा हो जाता है।[34] किन्तु जीव के स्वमहिम प्रतिष्ठित होने के पूर्व तक कर्मकर्तृत्वादिरूप समस्त भेद व्यवहार बने रहते हैं।[35] अत: शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के पारमार्थिक अभेद को मानते हुए भी उनके औपाधिक भेद को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।

शंकराचार्य ने एक अद्वैत तत्त्व ब्रह्म के ही माया शक्ति के कारण ईश्वर एवं अविद्योपाधि के कारण जीव, ये दो भेद किए हैं। परमेश्वराश्रया मायामयी, अविद्यात्मिका बीजशक्ति के निमित्त ही जीव अपने आप को ब्रह्म से भिन्न समझता है और उसके सभी व्यवहारों की सिद्धि होती है। इसी मायामयी महासुप्ति में संसारी जीव शयन करते हैं और अपने स्वरूप की अज्ञानता के कारण लौकिक व्यवहारों में प्रवृत होते हैं।[36] यह माया अविद्या न तो सत् है और न ही असत्। यदि वह सत् होती तो सदैव प्रतीत होती, कभी इसका बाध नहीं होता। यदि यह सर्वथा असत् होती तो यह नाम-रूपात्मक प्रपंच की अवभासिका नहीं होती। सत् और असत् के परस्पर विरोध होने के कारण माया को सदसत् भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए सत् असत् तथा सदसत् से विलक्षण होने के कारण यह अनिर्वचनीय है। इसे भिन्न, अभिन्न तथा भिन्नाभिन्न भी नहीं माना जा सकता और न ही इसे सांग, अनंग तथा सागानंग भी कहा जा सकता है।[37] इसी अनिवर्चनीय माया के द्वारा ही शंकराचार्य ने एक अद्वितीय चिन्मात्र ब्रह्मतत्त्व से नानाविध जीव

और जगत् का अवभास माना है।

शंकराचार्य ने जीव की जीवता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "यावदेवचायं बुद्धयुपाधिसम्बन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च" अर्थात् जब तक बुद्धिरूप उपाधि के साथ जीव का सम्बन्ध रहता है तभी तक जीव का जीवत्व एवं संसारित्व है। (ब्र० सू० शा० भा० 2/3/30)

जीव के स्वरूप विवेचन के सम्बन्ध में शांकर वेदान्त के अनुयायी विद्वानों के विभिन्न मत मिलते हैं। इस स्थल पर इन विद्वानों के प्रमुख मतों का उल्लेख करना समीचीन होगा।

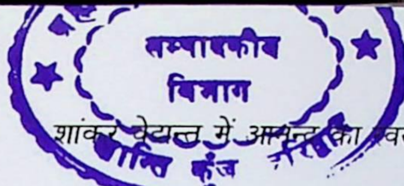
वाचस्पति मिश्र के अनुसार अविद्या जीव का अधिकरण है परन्तु जीव में रहने वाली अविद्या निमित्तता और विषमता के कारण ईश्वराश्रित होने से ईश्वराश्रया ही कही जाती है (भामती ब्र० सू० शा० भा० 1/4/3)।

विद्यारण्य का मत है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति के माया और अविद्या यह दो रूप है। रज और तम से तिरस्कृत न होकर जो मुख्य रूप से शुद्ध सत्त्व प्रधान है, वह माया है। इसके अतिरिक्त जो रज और तम से अभिभूत होकर मलिन सत्त्व प्रधान है, वह अविद्या है। संक्षेप में, माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है (पंचदशी तत्त्व विवेक प्रकरण; 16-17)।

संक्षेप शारीरक के रचयिता सर्वज्ञात्ममुनि ने अविद्या में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ईश्वर तथा अत्त:करण प्रतिबिम्बत चैतन्य के प्रतिबिम्ब को जीव संज्ञा दी है (सिद्धान्त लेश संग्रह, 32 प्रथम परिच्छेद)।

दृग्दृश्यविवेक के अन्तर्गत विद्यारण्यमुनि ने जीव के तीन भेद किए है- (क) अन्त:करणावच्छिन्न कूटस्थ चेतन पारमार्थिक जीव। (ख) मायावृत कूटस्थ में चित् का आभास रूप व्यावहारिक जीव। (ग) निद्रा से आवृत व्यावहारिक जीव में कल्पित प्रातिभासिक जीव (सिद्धान्त लेश संग्रह 38, 39 प्रथम परिच्छेद)। इस प्रकार विद्यारण्य ने जीव के उक्त भेदों का उल्लेख करके वैज्ञानिक अध्ययन का परिचय दिया है।

डॉ० राममूर्ति शर्मा ने जीव सम्बन्धी विवेचन के आरम्भ में ही कहा



है जीवानां स्वरूपं वास्तवं ब्रह्म (अद्वैत वेदान्त, पृ० 153) अर्थात् मूलतत्व एक मात्र ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही अविद्या के कारण जीवत्व को प्राप्त होता है। वस्तुत: जीवों का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म ही है। यहां यह और उल्लिखित है कि अविद्या निवृत्ति होने पर जीव ईश्वरत्व को प्राप्त होता है। इस ईश्वर से ब्रह्म की सत्ता पृथक् नहीं समझनी चाहिए। जगत् के समस्त सुख-दु:खादि का भोक्ता एवं विभिन्न कार्यों का कर्त्ता यही जीव है (ब्र० सू० शा० भा० 2/3/29, 2/3/37 द्रष्टव्य अद्वैत वेदान्त, पृ० 15)। इस प्रकार शुद्ध चैतन्य रूप ब्रह्म के ही अविद्योत्पन्न जीवादि भेद हो जाते हैं।

कर्त्ता एवं भोक्ता जीव की ही विश्व, तैजस और प्राज्ञ संज्ञाएं हैं। जीव की उक्त अवस्थाएं जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं, स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण इन तीन शरीरों तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पंचकोशों पर आधारित हैं। जाग्रतावस्था में स्थित अन्नमय कोशरूप स्थूल शरीर के अभिमानी जीव को विश्व कहते हैं। स्वप्न अवस्था में स्थित मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय कोशरूप सूक्ष्म शरीर के अभिमानी जीव को तैजस कहते हैं। उक्त तीन कोश ही जीव की ज्ञानशक्ति, इच्छा-शक्ति तथा क्रियाशक्ति के कारण हैं। विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से युक्त होने के कारण कर्तृत्वमय है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति से युक्त होने के कारण विवेक का साधक है एवं प्राणमय कोश गमनादि क्रिया से युक्त होने के कारण कार्य रूप है। सुषुप्ति अवस्थावर्ती आनन्दमय कोश रूप कारण शरीर के अभिमानी जीव को प्राज्ञ कहते हैं। उपर्युक्त जाग्रदादि अवस्थाओं स्थूलादि शरीरों एवं अन्नमयादि कोशों के अनुरूप ही समष्टि रूप ईश्वर को वैश्वानर या विराट, सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर कहते हैं।

संक्षेपत: यह कहना समुचित होगा कि जहां तक जीव एवं आनन्द का प्रश्न है, जीव के मूलतया ब्रह्मस्वरूप होने के कारण उसकी आनन्द स्वरूपता स्वत: स्पष्ट है, क्योंकि ब्रह्म स्वभाव से सत् चित् एवं आनन्द स्वरूप है। अत: यहां यह उल्लेखनीय है कि जीव का सुख-दु:खादि भोक्तृत्व तभी



तक है, जब तक कि उसके अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार जिस समय जीव की अज्ञानोपाधि की निवृत्ति हो जाती है तो वह स्वयं ही आनन्द स्वरूपता की स्थिति को प्राप्त होता है। किन्तु यहां यह प्रश्न विचारणीय है कि इस आनन्द स्वरूपता की स्थिति में, जिसे मोक्ष की स्थिति भी कहा जाता है, आनन्द का भोक्ता कौन है, क्योंकि इस स्थिति में द्वैत की सत्ता नहीं होती। इस सम्बन्ध में यह समाधान प्रस्तुत करना समीचीन होगा कि आनन्दस्वरूपता की इस स्थिति में भोक्ता एवं भोग्य का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता, क्योंकि यह स्थिति तो सर्वथा आनन्द की स्थिति है। यदि यहां यह प्रश्न किया जाए कि जब भोक्ता भोग्य का भेद ही इस स्थिति में नहीं है तो ये आनन्द की स्थिति किस प्रकार हो सकती है। इस सम्बन्ध में यह कहा जाएगा कि इस स्थिति में दु:खाभाव होने के कारण इसे आनन्द की स्थिति कहना समीचीन होगा। इस प्रकार आनन्द की स्वयं प्रकाशता ही इसकी आनन्द स्वरूपता है।

जगत् एवं आनन्द

शांकर वेदान्त के अनुसार ''अनित्यं संसार रूपम्'' (ब्र० सू० शा० भा० 1/1/4) अर्थात् जगत् अनित्य है। समस्त जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही मायाशक्ति के कारण प्रपंचरूप जगत् का कारण है।[38] जगत् मायोपादान से उत्पन्न होने के कारण माया के ही लक्षणों से सम्पन्न है। जैसे कि सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण माया अनिवर्चनीय है, वैसे ही जगत् भी न ब्रह्म की तरह सर्वथा सत् है और न शशश्रृंग अथवा आकाश कुसुम की तरह सर्वथा असत्। जगत् सर्वथा सत् परमार्थ सत् इसलिए नहीं है कि उसका कभी-न-कभी बाध एवं नाश होता है, किन्तु सत्। (परमार्थ सत्।) का कभी बाध नहीं होता।[39] जगत् के परमार्थ सत् न होने के कारण ही शांकर वेदान्त में इसे मिथ्या कहा गया है। जहां तक जगत् असत् होने की बात है उसे कौन स्वीकार सकता है, क्योंकि जगत् तो प्रत्यक्ष रूप से दृश्यमान् है। इसीलिए ब्रह्म में अध्यस्त जगत् को व्यावहारिक कहा गया है।[40] जगत् के ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण ही जगत् के लोक व्यवहार को

सत्य एवं असत्य के मिथुनभाव का परिणाम कहा गया है। यहां यह प्रश्न विशेष रूप से विचार करने योग्य है कि जब जगत् व्यावहारिक रूप से सत्य है, तो तत्त्वज्ञानी एवं अज्ञानी के जगद्विषयक अनुभव के सम्बन्ध में क्या भेद है? इस सम्बन्ध में वेदान्त का उत्तर है कि ज्ञान दशा में भी जगत् के अवयव हम और आप तथा पशु-पक्षी एवं तरू-लता आदि अज्ञान दशा की ही तरह वर्तमान रहते हैं, उनका अस्तित्व बना रहता है। अन्तर केवल यही है कि ब्रह्मज्ञानी या तत्त्वज्ञानी को जगत् की विविधता के सम्बन्ध में द्वैतता का अनुभव नहीं होता, वह समस्त जगत् को अद्वैत भावना-ब्रह्मभावना से ही देखता है। जबकि अज्ञानी को सदा जगत् में द्वैतरूपता का ही अनुभव होता है। अत: शंकराचार्य के अनुसार ''परमार्थवस्थायां सर्वव्यवहारभावं वदन्ति वेदान्ता: सर्वे''(ब्र० सू० शा० भा० 2/1/14) अर्थात् पारमार्थिक दशा में जगत् के व्यवहार लुप्त होते हैं, न कि जगत् का लोप होता है। यदि जगत् का लोप हो जाया करता तो एक व्यक्ति के जीवन्मुक्त होने पर जगत् की सत्ता ही समाप्त हो जाती (ब्र० सू० शा० भा० 3/2/21)। परन्तु ऐसा नहीं होता केवल द्वैतमूलक नामरूपात्मक प्रपंच एवं उससे उत्पन्न होने वाले व्यवहारों का ही लोप होता है, प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् का नहीं। इसलिए शांकर वेदान्त के अनुसार जगत् के असत् होने का यही तात्पर्य है कि जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं (ब्र० सू० शा० भा० 2/1/14)। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इस विषय को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्म और जगत् के अनन्यत्व से हम केवल दोनों के अभेद का प्रतिपादन नहीं करते अपितु भेद का निराकरण करते हैं।[41]

शतश्लोकी में कहा गया है कि हिरण्यगर्भ से लेकर सभी जीवों में यह बात एक-सी देखी जाती है कि आत्मस्वरूप के अज्ञान से जगत् का उदय होता है और उसका ज्ञान होने पर लय हो जाता है। यही बात श्रुतियों ने भी कही है। जिस प्रकार अन्योन्याध्यास से चांदी में उसकी अधिष्ठान रूप सीपी लुप्त हो जाती है और यथार्थ ज्ञान होने पर भ्रमजनित चांदी सीपी में समा जाती है, उसी प्रकार आत्मज्ञान होने पर यह जगत् ब्रह्म में लीन हो

जाता है तथा अज्ञानावस्था में ब्रह्म ही जगत् में समाया रहता है (शतश्लोकी, पृ० 13)। अतः ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। वही इस जगत् की प्रतिष्ठा और समस्त पदार्थों की मूल तथा परमार्थ सत्ता है। वह सर्वथा एक आनन्द, बहुरूपी (सब प्रकार के रूपों का आश्रय) परन्तु स्वयं रूपातीत, ज्ञानस्वभाव वह ब्रह्म अविद्यान्धकार से परे है (अद्वैतामृसार पृ० 41)। शांकर वेदान्त के अनुसार ''ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या'' अर्थात्- ब्रह्म एवं जगत् में अनन्यत्व एवं अद्वैतता है। इस प्रकार जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करके वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म तथा जगत् की अद्वैतता सिद्ध की गई है।

विवेक चूड़ामणि (पृ० 75) में ब्रह्म और जगत् की एकता स्पष्ट करते हुए कहा है-यह सम्पूर्ण विश्व, जो अज्ञान से नाना प्रकार का प्रतीत हो रहा है, समस्त भावनाओं के दोष से रहित अर्थात् निर्विकल्प ब्रह्म ही है। मिट्टी का कार्य होने पर भी घड़ा उससे पृथक् नहीं होता, क्योंकि सब ओर से मृत्तिका रूप होने के कारण घड़े का रूप मृत्तिका से पृथक् नहीं है, अतः मिट्टी में मिथ्या ही कल्पित नाममात्र घड़े की सत्ता ही कहा है? मिट्टी से अलग घड़े का रूप कोई भी नहीं दिखा सकता, इसलिये घड़ा तो मोह से ही कल्पित है, वास्तव में सत्य तो तत्स्वरूपा मृत्तिका ही है।

सत् ब्रह्म का कार्य यह सकल प्रपंच सत्स्वरूप ही है, क्योंकि यह सम्पूर्ण वही तो है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। जो कहता है कि उससे पृथक् भी कुछ है उसका मोह, उसका यह कथन सोए हुए मनुष्य के प्रलाप के समान है।

''यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है'' ऐसा अतिश्रेष्ठ अथर्व-श्रुति कहती है। इसलिए यह विश्व ब्रह्ममात्र ही है, क्योंकि अधिष्ठान से आरोपित वस्तु की पृथक् सत्ता हुआ ही नहीं करती। यह जगत् सत्य हो तो आत्मा की अनन्तता में दोष आता है और श्रुति अप्रमाणिक हो जाती है तथा ईश्वर अर्थात् भगवान् श्री कृष्ण भी मिथ्यावादी ठहरते हैं। ये तीनों ही बातें सत्पुरुषों के लिए शुभ और हितकर नहीं है। परमार्थ-तत्त्व के जानने वाले भगवान् कृष्णचन्द्र ने निश्चित किया है कि ''न तो मैं ही भूतों में स्थित हूँ और न

वे ही मुझ में स्थित हैं।'' यदि विश्व सत्य होता तो सुषुप्ति में भी उसकी प्रतीति होनी चाहिए थी; किन्तु उस समय इसकी कुछ भी प्रतीति नहीं होती; इसीलिए यह स्वप्न के समान असत् और मिथ्या है। इसीलिए परमात्मा से पृथक् जगत् है ही नहीं, उसकी पृथक् प्रतीति तो रज्जू में सर्प की प्रतीति के समान मिथ्या ही है; आरोपित वस्तु की वास्तविकता ही क्या? वह तो अधिष्ठान ही भ्रम से उस प्रकार भास रहा है। अज्ञानी को अज्ञानवश जो कुछ प्रतीत हो रहा, वह सब ब्रह्म ही है, जिस प्रकार भ्रम से प्रतीत हुई चांदी वस्तुतः सीपी ही है। ''इदं जगत्'' इसमें इदं (यह) रूप से सदा ब्रह्म ही कहा जाता है, ब्रह्म में आरोपित जगत् तो नाममात्र ही है।

अतः ब्रह्म सर्वथा आनन्दस्वरूप ही है तथा उसकी स्थिति जागतिक आनन्द से भी ऊपर है।

मोक्ष एवं आनन्द

अद्वैत में मुक्ति के अनेक पर्याय हैं-आत्मलाभ, आत्मज्ञान, अविद्यानिवृत्ति, किन्तु इन सब का तात्पर्य एक ही है। अविद्या के कारण आत्मा में अनात्मा का अध्यास होता है, जिससे सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मतत्त्व सीमित दुःखी कर्त्ता और भोक्ता दिखाई पड़ता है। इस अध्यास का निराकरण ही मोक्ष है। शंकराचार्य के अनुसार आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है-''स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः'' (तै० उ० शा० भा० 1/1/1)। जिस प्रकार रज्जु-सर्प भ्रम के दूर होने में हमें न किसी वस्तु की प्राप्ति होती है और न किसी वस्तु में परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ब्रह्म-जगत् भ्रम के दूर होने में भी न किसी वस्तु की प्राप्ति होती है, न किसी वस्तु में विकार होता है और न कोई नवीन वस्तु उत्पन्न होती है। मोक्ष की प्राप्ति किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति या प्राप्ति नहीं है, वह तो नित्य सत् द्रव्य की खोज मात्र है। इसी कारण मोक्ष का वर्णन करते हुए अनेक बार उसे नितान्त पास तथा बहुत दूर कहा गया है। वह हमारे वास्तविक स्वरूप का ही लाभ होने के कारण हमारे नितान्त पास है, परन्तु साथ ही साथ अविद्या का आवरण रहने के कारण हमसे दूर भी है-(शां०

भा० ई० उ० 5)।

श्री गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्यकारिका में लिखा है – ''अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः'' अर्थात् "अविद्या या अज्ञान के नाश का ही नाम मोक्ष और अविद्या का ही नाम बन्ध है। शंकराचार्य ने भी बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में लिखा है – ''अविद्यापगमयात्रत्वात् ब्रह्मप्राप्तिफलस्य'' (1/4/10) ''फलं व मोक्षो विद्यानिवृत्तिर्वा'' – (वही, 1/4/7) कि अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है, वही ब्रह्म प्राप्ति है। मोक्ष और अविद्या की निवृत्ति एक ही है। (सिद्धान्तलेश संग्रह 4/7) में भी ''अविद्यावत् तन्निवृत्तिरप्यनिर्वाच्यैव'' अर्थात् अविद्या की निवृत्ति को ही मोक्ष कहा है, अविद्या जैसे अनिवर्चनीय है वैसे ही अविद्या की निवृत्ति भी अनिवर्चनीय है।[42]

शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य 1/1/4 में मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं - "कि यह परमार्थ है, कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सभी विकारों से शून्य है, नित्य, तृप्त, अवयवों से रहित, स्वभाव से स्वयं प्रकाश है, वह ऐसी स्थिति है जहां तक पाप और पुण्य अपने फल सहित त्रिकाल में भी नहीं पहुंच सकते।"

शंकर के मत में ''मोक्षो ज्ञानकार्यमित्युच्यते'' (ब्र० सू० शा० भा० 3/2/13) अर्थात् मोक्ष का साक्षात्कार तथा अविद्या की निवृत्ति ज्ञान द्वारा ही हो सकती है क्योंकि मोक्ष आत्मा का निजी स्वरूप है। इसलिए वह नित्य है। नित्य पदार्थ किसी क्रिया का कार्य नहीं होता। इसलिए मोक्ष कर्म द्वारा साध्य नहीं,[43] केवल ज्ञान द्वारा ही साध्य है। ज्ञान द्वारा साध्य होने के कारण इसका अर्थ यह नहीं कि शंकर कर्म उपासना ध्यान को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते थे। यह सब चित्- शुद्धि के साधन हैं। शुद्ध चित् ही ज्ञान प्राप्ति के योग्य होता है। ज्ञानी ही अपने ज्ञान चक्षुओं से आत्मा का साक्षात्कार कर पाते हैं।[44] वास्तव में ज्ञान होने और मोक्ष प्राप्त करने के बीच में कोई भी अन्तर नहीं है। उपनिषदों में कहा है कि '' ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'' अर्थात् ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म हो जाता है। ''ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था (ब्र० सू० शा० भा० 3/3/32) अर्थात् मोक्षसर्वात्मभाव है ब्रह्म से एकता की अवस्था है।

''अनुभवावसानत्वाद् ब्रह्मज्ञानस्य'' (शारीरक भाष्य) अर्थात् ब्रह्म के अनुभव में ही ब्रह्मज्ञान की चरम परिणति है। ब्रह्मज्ञान में ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान का कोई अन्तर नहीं। पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा ब्रह्म और मोक्ष एक ही है। आत्मा ब्रह्म है और आत्मा नित्यमुक्त भी।

तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति, ज्ञानादेव तु कैवल्यम्, तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं मोक्षस्य साधनं-इत्यादि अनेकों श्रुति-स्मृति-वचनों के अनुसार तत्त्वज्ञान अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार मोक्ष का साधन है और मोक्ष ही मानव जीवन का परमपुरुषार्थ है- (ब्र० सू० शा० भा० की भूमिका का पृ०-13)। जीव परमार्थतः शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा होता हुआ भी अविद्यावेशवशात् देहात्मभावापन्न-सा होकर तत्कृत दुःख से अपने को दुःखी मान लेता है और इस प्रकार अविद्याकृतदुःखोपभोगाभिमानी होकर संसार के नानाविध क्लेशों तथा त्रिविध तापों का भाजन बन जाता है। यही संसारित्व शारीरत्व तथा अविद्याकृतविविधदुःखोपभोगाभिमानित्व जीव का बन्ध है। इससे छुटकारा पाना ही मोक्ष है। अतः यह कहना होगा कि अविद्यानिमित्तजीव भावव्युदास से ब्रह्मभाव ही मोक्ष है-तथा चाऽविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः- 'तत्त्वमसि' इत्येवमादयः- (ब्र० सू० शा० भा० 2/3/46)। उपाधि योग से वस्तु-स्वरूप परिवर्तन नहीं होता। स्वच्छ स्फटिक अलक्तक आदि उपाधि के योग से अस्वच्छ नहीं होता या जपाकुसुमप्रतिबिम्ब योग से रक्त नहीं हो जाता। चपल तरंगों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा प्रतिबिम्ब द्वारा तरंगों के योग से वस्तुतः तरंगानुसार दौलायमान नहीं हो जाता। उसी तरह नित्यशुद्धबुद्धमुक्त सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म उपाधि योग से न तो वस्तुतः ईश्वर तथा जीव और न संसार-कारण एवं संसारी, शरीर, कर्त्ता, भोक्ता और बद्ध हो जाता है। इसीलिए उपर्युक्त अविद्याप्रत्युपस्थापित बन्ध का निरास अविद्या निवृत्ति से स्वतः हो जाता है और जीव की पारमार्थिक मुक्त-स्वरूपता जो सतत है ही किन्तु अविद्यावशात् आवृत या अनाविर्भूत सी बनी रहती है, स्वतः आविर्भूत हो जाती है। सारांश यह है कि मोक्ष न केवल अविद्या तत्काय निवृत्ति है अपितु ब्रह्मभाव है।

वेदान्त जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति को भी स्वीकार करता है। जीवन्मुक्त प्राणी की अविद्या की निवृत्ति एवं ब्रह्मबोध होने पर कर्मादि का बोध समाप्त नहीं हो जाता।[45] तब तक मुक्त पुरुष को शरीर धारण करना ही पड़ता है। शंकराचयार्य ने जीवन्मुक्त की स्थिति को कुम्भकार के चक्र के दृष्टान्त से बताया है। जब जीवन्मुक्त व्यक्ति का प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है तो उसका देह नष्ट हो जाता है - (अत्रेव समवलीयन्ते, बृ० उ० 3/3/2)।

शंकराचार्य के अनुसार मुक्त पुरुष का व्यवहार इस प्रकार का हो जाता है कि उसके लिए प्रपंच रूप जगत् उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार अग्नि के द्वारा घी का काठिन्य नष्ट हो जाता है - (शा० भा० ब्र० सू० 1/1/4)। मुक्ति प्राप्त होने पर समस्त भौतिक जगत् का विनाश न हो कर केवल जीव की जगद्-बुद्धि का ही विनाश होता है - (अद्वैत वेदान्त पृ० 231)। प्रपंच शान्त होने पर मुक्त जीव की द्वैत-बुद्धि का भी विनाश हो जाता है - (बृ० उ० 4/4/25)। तत्वबोध की स्थिति में ब्रह्मज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्म रूप ही हो जाता है - (अद्वैत वेदान्त पृ० 231)।

मुक्त पुरुष के लिए अविद्या की निवृत्ति होने पर भ्रमादि जन्य दुःखानुभूति नहीं होती, क्योंकि अविद्याजन्य मिथ्याभिमान के कारण पुरुष को दुःखादि की अनुभूति होती है। उसे सर्वत्र आनन्दस्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं दिखाई देती है ऐसे मुक्त पुरुष का लोक में जड़वद् व्यवहार देखा जाता है - (अद्वैत वेदान्त पृ० 231)।

लोक एवं आनन्द

ऊपर मोक्ष एवं आनन्द के स्वरूप में सम्बन्ध में विवेचन करते हुए यह कहा है कि मोक्ष आनन्दस्वरूप ही है। यहां यह वक्तव्य है कि मोक्ष एवं परमानन्द का अनुभव साधक लोक में रहते हुए ही कर सकता है। इस प्रकार परमार्थ स्वरूप आनन्द का अनुभव आत्मतत्त्वेत्ता संसार में रहते हुए ही कर सकता है। इस प्रकार की स्थिति जीवन्मुक्तावस्था में प्राप्त है। इससे यह

तात्पर्य स्पष्ट होता है कि लोक में रहते हुए ही जिज्ञासु साधक आध्यात्मिक आनन्द का पात्र होता है। अत: ऐसा आत्म तत्त्ववेत्ता लोक में रहते हुए भी परम साध्य स्वरूप आध्यात्मिक आनन्द का लाभ अनुभव करता है।

परलोक एवं आनन्द

परलोक से यहां ब्रह्मज्ञान की स्थिति से तात्पर्य है। इस प्रकार परलोक का अर्थ लोकान्तर न होकर ब्रह्मलोक अथवा ब्रह्मसिद्धि से तात्पर्य है। इस स्थिति में जीव ब्रह्म स्थिति को प्राप्त करके ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। परलोक से यहां स्वर्गादि लोक का अर्थ इसलिए नहीं ग्रहण किया जा सकता कि स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति नियत नहीं है। जब कि ब्रह्म शुद्ध, शाश्वत एवं परमत्त्व स्वरूप है।

सन्दर्भ :

1. परमार्थ सत्यं ब्रह्म । तै० उ० शा० भा० 2/6
2. बृहत्तमत्वाद् ब्रह्म । तै० उ० शा० भा० 2/1
3. ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्य -
शुद्धत्वादयोऽर्था: प्रतीयन्ते बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्।।
ब्र० सू० शा० भा० 1/1/1
4. अस्य जगतोनामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृ
संयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसा -
प्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्ग यत: सर्वज्ञात्सर्व-
शक्ते: कारणाद्भवति, तद्ब्रह्म । शा० भा० ब्र० सू० 1/1/2
5. विद्या विषयो ज्ञेयम् निर्गुणं सत्यम् अविद्या
विषय उपास्यम् सगुण कल्पितम्। ब्र० सू० शा० भा० 1/1/12
6. वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणोनामावाभिप्रायेणाभिधीयते।
ब्र० सू० शा० भा० 3/2/2
7. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । तै० उ० 2/1/1

रसो वै सः । तै० उ० 2/6/1, आनन्दात्मा। तै० उ० 2/5/1

8. अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं विशुद्धविज्ञानघनं निरञ्जनम्।
प्रणान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं निरन्तरानन्दरसस्वरूपम् विवेकचूड़ामणि, 239

9. निरस्तमायाकृतसर्वभेदं
नित्यं सुखं निष्कलमप्रमेयम्।
अरूपमव्यक्तमनाख्यमव्ययं
ज्योतिः स्वयं किञ्चिदिदं चकास्ति। विवेकचूड़ामणि, 240

10. आनन्दसद्वै स्वयमेवपूर्ण संसार सृष्टयाद्यविकारपात्रम्।
कर्तृत्वभोक्तृत्व-विवर्ज्जितं तत् सर्वाश्रयो ब्रह्म जगन्निदानम्
अद्वैतामृतसार 2/39

11. यस्मिन्सर्वमिदं वाचारम्भणे विकारोनामधेयमनृतं
रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पजातमध्यस्तमविद्यया तदस्य
जगतो मूलमतः सन्मूलाः सत्कारणा हे सोम्येमाः
स्थावरजङ्गम लक्षणाः सर्वाः प्रजा न केवलं सन्मूला
एवेदानीमपि स्थितिकाले सदायतनाः सदाश्रया एव।
नहि मृदमनाश्रित्य घटादेः सत्वं स्थितिर्वास्ति।
अतो मृदत्सन्मूलत्वम् प्रजानां सदायतनं यासां ताः- सत्प्रतिष्ठाः।।
छा० उ० शा० भा० 6/8/4

12. स यः सदाख्य एष उक्तोऽणिमाणुभावो जगतो
मूलमैतदात्म्यमेतत्सदात्मा यस्य सर्वस्य तदेतदात्म
तस्य भाव ऐतदात्म्यम्। ऐतेन सदाख्येनात्मनात्मवत्सर्वमिदं जगत्। ....
येन चात्मनात्मवत्सर्वमिदं जगत्तदेव सदाख्यं कारणं सत्यं परमार्थसत्।
अतः स एवात्मा जगतः प्रत्यक्स्वरूपं सतत्त्वं याथात्म्यम्।
छा० उ० शा० भा० 6/8/7

13. यद्रूपेण यन्निश्चितं, तद्रूपं न
व्यभिचरति तत्सत्यम्। यद्रपेण निश्चितं
यतद्रूपं व्यभिचरदनृतमित्युच्यते। अतो

विकारोऽनृतम्। अतः सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्म
विकारान्निवर्तयति।। - तै० उ० शा० भा० पृ० - 103 - 4

14. त्रिविधंह्यानन्त्यं, देशतः कालतो वस्तुतश्चेति। तद्यथा
देशातोऽनन्त आकाशः। न हि देशतस्तस्य
परिच्छेदोऽस्ति। न तु कालश्चानन्त्यं वस्तुतश्चाकाशस्य,
कार्यत्वात्। नैवं ब्रह्मण आकाशवत्कालतोऽप्यन्तवत्वमकार्यत्वात्।
तै० उ० शा० भा० पृ० - 117

15. .... वस्तुत आनन्त्यं सर्वानन्यत्वात्। भिन्नं हि
वस्तु वस्त्वन्तरस्यान्तो भवति। वस्त्वन्तरबुद्धिर्हि
प्रसक्ताद् वस्त्वन्तरान्निवर्तते। यतो यस्य बुद्धेर्विनिवृत्तिः
स तस्यान्तः। स चान्तो भिन्नेषु वस्तुषु दृष्टः। नैवं
ब्रह्मणो भेदः। अतो वस्तुतोऽप्यानन्त्यम्।
तै० उ० शा० भा० पृ० - 117

16. सर्वानन्यत्वं ब्रह्मणः सर्ववस्तुकारणत्वात् ....
अनृतत्वात् कार्यवस्तुनः।
तै० उ० शा० भा० पृ० - 118

17. आकाशो ह्यनन्त इति प्रसिद्धं देशतः ....
.... लोके किञ्चिद् दृश्यते।
तै० उ० शा० भा० पृ० - 118

18. निरतिशयमानन्त्यमात्मनः, ... अतएव निरतिशयसत्यत्वम्
तै० उ० शा० भा० पृ० - 119

19. स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्व तत्सत्यं स आत्मा......।
छा० उ० 6/9/4

20. सद्बीजं सत्प्रतिष्ठं च सदायतनमेव च।
प्रत्यक्षमेव सत्सिद्धं सदन्यस्याप्रसिद्धितः।। बृ० भा० वा० 1/2/10
सदेवागमतः सर्व प्रत्यक्षाच्च सदीक्ष्यते
अनुमानाच्च सत्सर्वं तथा तदधुनोच्यते।।

21. असाधारणरूपेषु व्यावृतेष्वितरेतरम्।
बहुष्वेकं यदाभाति प्रत्यक्षे कारणं तु तत्।।
बृ० भा० वा० 1/2/56

22. न विद्यमानमात्रेण ह्यभिव्यक्तिरपीष्यते
सदेव वस्त्वभिव्यक्तं तथाऽव्यक्तं च लक्ष्यते।।
कार्यान्तरेण संस्थानान्मृदादेर्नोपलभ्यते।
सदात्मनोपलब्धिस्तु न कदाचन हीयते।। वृ० भा० वा० 1/2/91

23. सत्वपूर्वमिदं कार्य तमोऽन्तस्थघटादिवत्।
तस्याभिव्यक्तिधर्मत्वादन्यथा स्यान्नृश्रृङ्गवत्।। वृ० भा० वा० 1/2/74

24. नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः
सत्यः सूक्ष्मः सन् विभुश्चाद्वितीयः। सं० शा० 1/173

25. अस्ति तावद् ब्रह्म नित्युशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावम्...। ब्र० सू० शा० भा० 1/1/1

26. सकलदुःखातिगे ब्रह्मतत्त्वे दुःखेभ्यः उद्विग्नः
सुखेभ्यश्च वीतरागः प्रवर्तमानो मुच्यते।
आनन्दश्रुतयश्च सकलदुःखातिक्रममेवाहुः, दृष्टो
हिं दुःखादिनिवृतौ सुखशब्दः सैव च सुखमित्यन्ये।
.... तान् प्रत्याह – आनन्दमिति न तावद्
दुःखनिवृतिरेव सुखम्..... दुखनिवृतेरन्यदेव सुखम्।
स चानन्दशब्दस्य मुख्यताऽर्थः। ब्र० सि०, पृ० 5

27. तस्मादात्मप्रकाशप्रकृष्टानन्दस्वाभमेव ब्रह्मेति युक्तम्।
एवं च लौकिकानन्द एतस्य मात्रेति युज्यते,
अवच्छेदात्, दुःखनिवृतौ तु दुर्योजमेतत्। इतश्चा–
नन्दस्वभाव आत्मा, परप्रेमास्पदत्वात्। श्रूयते हि
परमप्रेमास्पदत्वम् – तदेतत्प्रेयः पुत्रात् इति। ब्र० सि०, पृ० 5

28. आनन्दो विषयानुभवो सत्यत्वं चेति सन्ति धर्माः।
अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते।।पं० पा० पृ० 23

29. प्राज्ञे सुखं समनुभूय समुत्थितः सन्

सर्वप्रकार विषयप्रतिपत्तिशून्ये।

सुप्तोऽहमत्र सुखमित्यनुसन्दधानः।

सर्वोऽपि जन्तुश्वगच्छति तस्य सौख्यम्

प्रेमाऽनुपाधिरसुखात्मनि नोपलब्धः

स प्रत्यगात्मनि कृमेरपि नित्यसिद्धः।

प्रेयः श्रुतेरपि ततः सुखताऽनुमानं

नैयायिकोऽपि न दृगात्मनि निहनुवति।।

सं० शा० 1/23, 25

30. अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः।

कठ० उ० 2/10

31. तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविषत् तै० उ० 2/6/1

अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्यनामरूपे व्याकरवाणि। छा० उ० 6/3/2

32. परमेश्वरस्यत्वविद्याकल्पिताच्छरीरात् कर्तुर्भोक्तु

विज्ञानात्माख्यादन्य।........ यथा वा

घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिरपरिच्छिन्न

आकाशेऽन्यः। ब्र० सू० शा० भा० 1/1/17

33. यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव,

तथाप्यविधाकामकर्मकृतं तस्मिन् मत्यंत्वमध्या -

रोपितं भयं चेत्यमृतत्वाभयत्वं नोपपद्यते। ब्र० सू० शा० भा०, 1/2/17

34. यावदेवहि स्थाणाविव पुरूषबुद्धि द्वैतलक्षणामविद्यां

निवर्तयन् कूटस्थ-नित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं-

ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते तावज्जीवस्य जीवत्त्वम्।

यदा तु देहन्द्रियमनोबुद्धिसंघाताद् व्युत्थाप्य

श्रुत्या प्रतिबोध्यते तदा स एव कूटस्थ-

नित्यदृक्स्वरूप आत्मा भवति। ब्र० सू० शा० भा० 1/3/19

35. तदेपक्षया च कर्मकर्तृत्वादिभेदव्यवहारो न विरूध्यते।

ब्र० सू० शा० भा० 1/2/3

36. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देशया
परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यां
स्वरूप प्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः।
.... अविद्यावत्त्वेनैव जीवस्य सर्वः सव्यवहारः
सततो वर्तते। ब्र० सू० शा० भा० 1/4/3

37. सन्नाप्यसन्नाप्युभयत्मिका नो भिन्नाप्युभयात्मिका नी।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नी महाद्भुता-निर्वचनीयरूपा।
विवेकचूड़ामणि, श्लोक।।।

38. अस्त जगतो...जन्मस्थितिभङ्ग यतः सर्वज्ञात्
सर्वशक्तेः कारणाद् भवति, तद् ब्रह्म। ब्र० सू० शा० भा० 1/1/2

39. सत्यत्वं बाधराहित्यम्। पंचदशी 3/29

40. सत्यानृते मिथुनीकृत्याहमिदं ममेदमिति
नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः। ब्र० सू० शा० भा० 1/1/1

41. नखलुत्वनन्यत्वमित्यमेदं ब्रूमः किन्तु भेदं व्यासेधाम - भामती 2/1/14

42. इदं तु पारमार्थिक कूटस्थं नित्यं
व्योमवत्सर्वव्यपि सर्वक्रियारहितं, नित्यतृप्तं
निरवयवं स्वयंज्योतिः स्वभावं, यत्र धर्मो अधर्मो
कालत्रयं च नोपावर्तते। ब्र० स० शा० भा० 1/1/4

43. अविरोपितया कर्म ना-विद्यां विनिवर्तयेत्
विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिभिरसङ्घव-आत्मबोध-3

44. सर्वज्ञं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षितैः
अज्ञान चक्षुर्नेक्षत भास्वन्तं भानुमन्धवत्-आत्मबोध-64

45. क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरेः -मु० उ० 2/2/8

पंचम अध्याय

शंकराचार्य के अनुसार आनन्द की भक्ति परकता

शंकराचार्य के स्तोत्र ग्रन्थों में भक्ति परक आनन्द का स्वरूप

(क) शैव स्तोत्रों में आनन्द का स्वरूप

शंकराचार्य के सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि वे भगवान् शंकर के साक्षात् अवतार थे। इसके अतिरिक्त यद्यपि आचार्य शंकर निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादक थे किन्तु उन्होंने भगवती शक्ति एवं शिव के सम्बन्ध मे अनेक स्तोत्रों की रचना की है। यहां हमारा प्रयोजन शैव स्तोत्रों में आनन्द के स्वरूप का निरूपण करना है। एतत्त्नुसार यह कहना उपयुक्त होगा कि आचार्य शंकर ने आत्मा को समस्त भौतिक पदार्थों से अतिरिक्त मानते हुए शिव-स्वरूप एवं चिदानन्दस्वरूप बतलाया है। शंकराचार्य द्वारा निरूपित यह आनन्द मन, बुद्धि, अहंकार, चित् तथा श्रोत्रादि इन्द्रियों से अतीत है। यह शंकराचार्य द्वारा रचित निर्वाणशट्कम् नामक स्तोत्र के नीचे उद्धृत अंश से उक्त तथ्य का स्पष्ट समर्थन होता है:-

मनोबुद्धयहंकार चित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायुश्चिदानंदरूपः
शिवोऽहं शिवोऽहम्।। (निर्वाणशट्कम् श्लोक।)

इसी प्रकार शिवभुजंगप्रयात स्तोत्र के अन्तर्गत भी आचार्य ने मन एवं वाणी से अतीत शैव ब्रह्म-स्वरूप का निरूपण किया है। यह ब्रह्म-स्वरूप

वेदान्त का परब्रह्मतत्त्व ही है।[1] यह शैव परब्रह्म तत्व वेदान्त का चित् तत्व एवं आनन्द-स्वरूप ही है। इसी प्रकार शिव पंचाक्षर स्तोत्र के अन्तर्गत आचार्य शंकर ने शिव तत्व को सनातन एवं दिव्य देव की संज्ञा दी है।[2] शिवापराधक्षमापन स्तोत्र के अन्तर्गत शंकराचार्य ने भगवान् शिव की स्तुति करते हुए समस्त अपराधों की क्षमा मांग कर भक्त स्वभावानुकूल आनन्द का अनुभव किया है। इसी प्रकार वेदसार शिवस्तोत्र में भगवान् शिव को जगत् का अधिष्ठान् कहा है।[3] इस स्तोत्र के अन्तर्गत शिव का स्वरूप द्वैत से रहित तथा तुरीय बतलाया है।[4] जहां तक आनन्द का प्रश्न है इस स्तोत्र के अन्तर्गत शंकराचार्य ने चिदानन्दमूर्ति स्वरूप कहा है।[5] इससे विषदिकृत है कि आचार्य ने जिस ब्रह्मानन्द का निरूपण किया है वह वेदान्त का ही परमानन्द है। सच तो यह होगा कि शैव स्तोत्रों का आनन्द निरूपण भक्ति एवं वेदान्त के समन्वित प्रवाह का परिचायक है। आचार्य ने शिवनामवल्यष्टकम् स्तोत्र के द्वारा गिरजापति भगवान् शंकर की नामावली का निरूपण करते हुए भगवान् को सांसारिक दुःखों के नाश का हेतु माना है।[6] तथा शिव को विश्वेष, विश्वरूप तथा विश्वात्मक कहकर ब्रह्मस्वरूप प्रदान किया है।[7] निर्वाण दशक स्तोत्र के अन्तर्गत निर्वाण के अद्वैत स्वरूप का निरूपण करते हुए शंकराचार्य ने केवलाद्वैत स्वरूप शिव की स्तुति की है। तथा वर्णाश्रम, माता-पिता आदि सांसारिक सम्बन्धों की परमार्थता का खण्डन किया है।[8] इस स्तोत्र के अन्तर्गत शंकराचार्य का उद्देश्य अद्वैत शिव-स्परूप की स्तुति है।

इस प्रकार उपर्युक्त दिग्दर्शन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शंकराचार्य ने शैव स्तोत्रों के अन्तर्गत भगवान् शिव की जो स्तुति की है वह परब्रह्म की ही स्तुति है। यदि देखा जाए तो इन स्तोत्रों में शंकराचार्य एक भक्त के रूप में प्रतीत होते हैं और इस प्रकार उनके स्तोत्र भक्ति समन्वित ज्ञान के प्रतिपादक कहे जा सकते हैं। सौन्दर्य लहरी के अन्तर्गत भी भगवती शक्ति के प्रति इनकी भक्ति भावना स्पष्ट हुई है। यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त निरूपण से भक्ति एवं ज्ञान का विरोध नहीं

समझना चाहिए अपितु यह विरोध न होकर एक प्रकार का समन्वय है। शंकराचार्य के उत्तरवर्ती वेदान्त के सुप्रतिष्ठित आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भी भक्ति विशिष्ट अद्वैतवाद की प्रस्थापना की थी। अतः निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य ने अपने शैवादि स्तोत्रों के माध्यम से वेदान्त के परमानन्द का भक्ति के स्तर पर अनुभव किया है।

शाक्त स्तोत्रों में आनन्द का स्वरूप

स्तोत्र चाहे शैव हो चाहे वैष्णव और चाहे शाक्त उनमें भक्ति की प्रधानता होने के कारण आनन्द की स्रोतस्विनी का प्रवाह स्वाभाविक है। ऊपर शैव स्तोत्रों के सम्बन्ध में विचार करते समय इस तथ्य का उद्घाटन किया गया है। जहां तक शाक्त स्तोत्रों का सम्बन्ध है, यदि देखा जाए तो उनमें आनन्द की भावना का अनुभव अधिक तीव्र एवं भावुकता पूर्ण होता है। इसका कारण यह है कि शक्ति के स्त्री स्वरूपिनी होने के कारण उसकी प्रार्थना, आराधना एवं उपासना में भावुकता का अतिरेक स्वाभाविक है। यही कारण है कि शाक्त स्तोत्रों में आनन्द का जो उद्भाव अनुभूत होता है। वह वैसा कदाचित् अन्य स्तोत्रों में नहीं। शंकराचार्य द्वारा रचित स्तोत्रों के अन्तर्गत अनुभूत आनन्द का स्वरूप उनके शक्ति स्तोत्रों में उपलब्ध होता है। यहां तक कि उनके एक स्तोत्र का नाम ही आनन्दलहरी है। इस स्तोत्र के अन्तर्गत भगवती के चरम सौन्दर्य का वर्णन करते हुए आचार्य ने उन्हें चिदानन्दलतिका[9] का स्वरूप प्रदान किया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि इस अंश के अन्तर्गत आनन्द के साथ चित् शब्द का प्रयोग करके आनन्दमय आध्यात्मिकता का समावेश किया है। इसी प्रकार अन्नपूर्णा स्तोत्र के अन्तर्गत भी आचार्य शंकर ने काशीपुराधीश्वरी देवी अन्नपूर्णा को नित्यानन्दकारी,[10] योगानन्नदकरी[11] एवं सर्वानन्दकरी[12] कहा है। इस प्रकार अन्नपूर्णा स्तोत्र के अन्तर्गत भी आनन्द आध्यात्मिकता की प्रस्थापना हुई है! इसी प्रकार भगवान शंकराचीय ने श्रीकनकलक्ष्मीस्तवः स्तोत्र के अन्तर्गत भी अनंग आनन्द का वर्णन किया है।[13] कनक (लक्ष्मी) स्तवः स्तोत्र की रचना आचार्य शंकर ने अपने जन्मस्थान कालटी नामक ग्राम के अन्तर्गत एक

ब्राह्मण की स्त्री के दुःखनिवारण करने के लिए की थी। यह स्तोत्र अनेक कष्टों का निवारण करता है एवं आनन्द प्रदान करने वाला है। शंकराचार्य द्वारा रचित त्रिपुरसुन्दरी स्तोत्र शंकराचार्य की एक विलक्षण रचना है। इसमें भगवती त्रिपुरा का सुन्दर निरूपण वर्तमान है। आचार्य शंकर ने त्रिपुरसुन्दरी को अशेष जन्म मोहिनी कहा है।[14] इस प्रकार शाक्त साहित्य में त्रिपुरसुन्दरी का विशेष स्थान है। अम्बाष्टक स्तोत्र के अन्तर्गत आचार्य शंकर ने आठ पदों के द्वारा देवी की स्तुति की हैं। इसमें शैलाधिराजतनया पार्वती की स्तुति बड़े सुन्दर ढंग से की गई है।[15] अम्बा को आचार्य शंकर ने पुत्रादि दान निपुणा कहा है।[16]

समस्त शाक्त स्तोत्रों के अन्तर्गत आचार्य शंकर ने शक्ति की स्तुति माता के रूप में की है एकत्व माता की स्तुति करते समय आचार्य शंकर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि पुत्र कुपुत्र हो सकता है माता कुमाता नहीं हो सकती ''कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।''

इस प्रकार देव्यापराधक्षमापण स्तोत्र के अन्तर्गत शंकराचार्य ने माता के परमकृपालु एवं श्रेयस्कर स्वरूप का यथार्थ निरूपण किया है। शंकराचार्य माता शक्ति की प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि मुझे न मोक्ष की अभिलाषा है, न सांसारिक वैभव की वाञ्छा और न ज्ञान अथवा सुख की अभिलाषा। आचार्य कहते हैं कि मेरी तो केवल एक ही प्रार्थना है कि मैं सदा तुम्हारा माता शक्ति के नाम का ही स्मरण जप करता रहूं।[17]

इस प्रकार यह कहना उपयुक्त होगा कि शाक्त स्तोत्रों के अन्तर्गत आचार्य शंकर की भक्ति भावना का स्रोत पूर्ण रूप से प्रवाहमान दृष्टिगोचर होता है।

(क) वेदान्त स्तोत्रों में आनन्द का स्वरूप

आत्मपंचक, वैराग्यपंचकम् आदि वेदान्त स्तोत्रों के अन्तर्गत आनन्द का निरूपण अनेक प्रकार से किया गया है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि इन वेदान्तपरक स्तोत्रों के अन्तर्गत आनन्द वर्णन के अनेक

रूप उपलब्ध होते हैं, किन्तु इन सभी का मूल तत्व एक ही है। यह मूल तत्व सत्य, ज्ञान, अनन्त, शान्त, शुद्ध बुद्ध एवं मुक्त निर्गुण स्वरूप ब्रह्म है। इसी ब्रह्म तत्व की आनन्द स्वरूपता का वर्णन वेदान्त परक स्तोत्रों के अन्तर्गत किया गया है। उदाहरणार्थ आत्मपंचक स्तोत्र के अन्तर्गत आत्मा को सत्य, ज्ञान एवं आनन्द स्वरूप कहा गया है।[18] इसी प्रकार विज्ञान नौका में परब्रह्म तत्व को आनन्दरूप तथा प्रकाशस्वरूप कहा है।[19] मनीषापंचक के अन्तर्गत प्रत्यग् वस्तु स्वरूप परमात्मतत्व को सहजानन्द - स्वरूप कहा है।[20] वाक्यवृति: में आचार्य ने आनन्दरूप सत्य का उल्लेख किया है तथा परमात्मा को निरातिशयानन्द माना है।[21]

इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों के अन्तर्गत ब्रह्म की आनन्दस्वरूपता का वर्णन किया है, उसी प्रकार स्तोत्र ग्रन्थों में भी ब्रह्म तत्त्व का निरूपण आनन्द - रूप में मिलता है।

भक्ति और ज्ञान

आचार्य शंकर की कृतियों में एक ओर जहां उनके ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों एवं गीता के भाष्य हैं जो पूर्णतया ज्ञान प्रधान हैं, दूसरी ओर आनन्दलहरी, सौन्दर्यलहरी तथा अन्यान्य स्तोत्र ग्रन्थ हैं, जिनसे अधिक उत्तम भक्ति भावना का निदर्शन अन्यत्र दुर्लभ है।

अद्वैत दर्शन जगत् को अशेषत: मिथ्या मानता है। उसके अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है जो कि सजातीय विजातीय भेदों से रहित सत्य, ज्ञान और आनन्दात्मक स्वरूप वाला है। ये सत्य, ज्ञान और आनन्द उसके स्वरूप के विभिन्न दृष्टिकोण हैं, गुण नहीं । इस प्रकार वह गुण - गुणी के स्वगत भेद से भी रहित हैं। ईश्वर एवं जगत् दोनों जीव की कल्पनाएं हैं, जिनका परमार्थ भूमि पर अशेषत: विलय हो जाता है। जीव स्वयं स्वरूप में सत्य नहीं है। अत: इस विचारधारा में परमार्थ भूमि पर भक्ति का क्या स्थान हो सकता है? जहाँ न कोई अल्प है न महान् न कोई सेव्य है न सेवक यहा तक कि जहां गुणों का भी गुणी के स्वरूप के अतिरिक्त अशेष अभाव

है, वहां भक्ति की भावना किसकी ओर किसके प्रति जागृत हो सकती है। इसीलिए शंकर वेदान्त मानता है कि जीवन और ईश्वर में सम्भव होने वाली उपासक-उपास्यभावरूपा भक्ति अविद्यावस्था में ही सम्भव है।[22]

शंकर वेदान्त के मूलाधार उपनिषदों ''नेह नानाऽस्ति किञ्चन। (बृ० उ० 4/4/6) में एक ओर जहां द्वैत को अशेषत: मिथ्या कहा गया है। और ''ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:'' में ज्ञान मात्र से मुक्ति बतायी गई है। वहां अनेक ऐसे मन्त्र भी मिलते हैं जिनमें प्रार्थना एवं उपासना के उन्नत भाव अभिव्यक्त हुए हैं। उपनिषदों के ऋषि यह समझते थे कि संसार से परे रहस्यमय कुछ है जो इस सारे विकल्प की सत्ता का आधार है। वास्तविक आनन्द निस्सीमता में ही है। सीमित वस्तुओं में कोई आनन्द नहीं हो सकता। उन्होंने यह भी जान लिया था कि यह निस्सीम तत्त्व उनका आभ्यन्तर आत्मा ही है। किन्तु इस निस्सीमता तक पहुंचना सीमित व्यक्तितत्वों के लिए सहसा सम्भव नहीं, अत: इसके लिए उन्होंने उपासना के क्रमिक स्तर बताए, जिनमें स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने का सिद्धान्त निहित है। विस्तृत छन्दोग्योपनिषद् 4/3 में आत्मा के निस्सीम ब्रह्म से ऐक्यसाधनार्थ अनेक प्रकार की उपासनाएं बतायी गई हैं। जिनमें अहंब्रह्मोपासना प्रमुख है इसमें उपासक को ब्रह्म के विभिन्न स्वरूपों से अथवा स्वयं सविशेष ब्रह्म से, अपना तादातम्य स्थापित करने को कहा गया है। 'संवर्ग विद्या' एवं गायत्री उपासना इसी के अन्तर्गत आती है, जिनमें से 'संवर्ग विद्या' में सम्पूर्ण संसार के विराट् पुरुष में लय का अभिध्यान किया जाता है। ''गायत्री उपासना'' में अनन्त ब्रह्म के प्रतीक स्वरूप गायत्री की उपासना। (ध्यान) का उल्लेख है जिससे साधक अन्त में अपना तादात्म्य स्थापित करता है (विस्तृत-छान्दोग्य 3/12 एवं बृहदारण्यक 5/14)। उपनिषदों के निष्ठभाष्यकार होते हुए शंकर इन प्रसंगों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। उन्होंने ''नेह नानेति किंचन'' एवं ''मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'' आदि अद्वैत प्रतिपादक श्रुति वाक्यों के उपर्युक्त उपासनाविधायक वाक्यों से सामंजस्य स्थापित करते हुए कहा है कि इन क्रमिक उपासनाओं का उद्देश्य मन की

शुद्धि करने एवं अद्वैततत्त्व तक उसको क्रमशः आरोहित करने में है।[23] उपासना का स्वरूप बताते हुए वे कहते हैं कि यह शास्त्र समर्थित किसी आलम्बन को लेकर उसमें विलक्षण प्रत्ययों से रहित समान-चित्तवृत्ति की धारा प्रवाहित करना है।[24] ऐसा करने से मन की चंचलता दूर होती है और वह उच्च तत्त्व की धारणा में समर्थ होता है। योगशास्त्र, जो सांगोपांग मन के इस संस्कार का ही विधान हैं- जिस किसी अभिमत वस्तु में समान-चित्तवृत्ति प्रवाहित करने की अनुज्ञा देता है (योग सूत्र 1/39) और कहता है कि इससे मन में एकाग्र होने की योग्यता आती है, और वह सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान करने में समर्थ होता है (योगसूत्र 1/40)। शांकर वेदान्त इन्हीं अर्थों में 'उपासना' स्वीकार करता है।

'ईश्वर प्रणिधान' अथवा 'ईश्वरोपसना' का शीघ्र वैराग्य उत्पन्न कराने में भी महत्वपूर्ण उपयोग है। विषयों के प्रति राग के अभ्यासी चित को सहसा उनसे विमुख कर लेना सम्भव नहीं है। किसी अन्य विषय में चित्त को आकृष्ट करके धीरे-धीरे ऐसा किया जा सकता है। ईश्वर मनुष्य की चिन्तन-सीमा में आ सकने वाले सर्वोच्च गुणों का आगार है, अतः उसके प्रति रागासक्त मन विषयों के प्रति मोह अनुभव नहीं करता। विषयों के प्रति राग का परित्याग करने से जीव के पापों का विनाश होता है और मन में निर्मलता तथा तत्त्व ग्रहण करने की योग्यता आती है।[25] इसीलिए शंकर कहते हैं कि ईश्वर कृपा से ही वह ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है, जो मोक्ष का कारण है,[26] और इसे साधनचुतुष्टय के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं।

इस प्रकार यह सच है कि शंकर ''उपासना'' अथवा 'भक्ति' को औपनिषदिक आधार के अनुकूल आत्मज्ञान के लिए आवश्यक मानते हैं, पर वे इसे परमार्थ भूमि पर नहीं स्वीकार करते। श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति के प्रकार अपने अतिरिक्त किसी महत्तर व्यक्तित्व के प्रति ही सम्भव हैं। इसीलिए गीता (11/54) पर भाष्य करते हुए शंकर ने ''भक्त्या त्वनन्यया'' का अर्थ ''भक्त्या त्वनन्यायाऽत्मविषयया इत्यर्थः किया है।[27]

जहां ''भक्ति'' को परमार्थ भूमि पर मानने का प्रश्न है, वे उसे ''स्वरूपानुसन्धान'' के रूप की मानते हैं, और इस प्रकार वहां ज्ञान से तनिक भी भिन्न नहीं रह जाती।[28]

भक्ति एवं मोक्ष

शंकर के मत में मोक्ष का साक्षात् कारण ज्ञान ही है,[29] क्योंकि समस्त संसार एवं उससे उत्पन्न दु:ख ब्रह्मरूप अधिष्ठान के अज्ञान के कारण हैं, जिसकी निवृत्ति ज्ञान से ही हो सकती है। यह ज्ञान विक्षेपरहित अखण्डाकाराकारित चितवृत्ति रूप का है, इसलिए उसे ब्रह्मविषया धारावाहिक चित्तवृत्ति होने से भक्ति पद से अभिहित किया जा सकता है।[30] इन विशेष अर्थों में भक्ति आत्म-साक्षात्कारात्मक ज्ञान के पश्चात् भी सम्भव है, परन्तु ईश्वर प्रणिपति अथवा उसके गुणों के श्रवण, मनन, कीर्तन आदि के रूप की समान्या साधन भक्ति आत्मा के अप्रत्यक्षज्ञान से पूर्व एवं तत्पश्चात् परन्तु साक्षात्कार ज्ञान के अव्यवहित पूर्ण तक ही हो सकती है।[31]

शंकर-परवर्ती अद्वैतवेदान्तियों के भी भक्ति के विषय में लगभग यही विचार है। सुरेश्वर, पदमपाद, वाचस्पति, प्रकाशात्मा, अखण्डानन्द, अद्वैतानन्द एवं स्वयं प्रकाशानन्द प्राय: सभी की कृतियों में भक्ति आत्मा अथवा ब्रह्म के निदिध्यासन रूप की है। 'निदिध्यासन' उपासना से किंचिद् विलक्षण है। उपासना में जहा चित्तवृत्ति की तदाकाराकारितता में पुरुष का प्रयत्न अपेक्षित रहता है वहां निदिध्यासन में पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा न रहते हुए चित्त की धारावाहिक तदाकाराकारिता है। 'सुरेश्वर' उपासना एवं निदिध्यासन के इस भेद को प्रकट करने के लिए अधिक सचेष्ट हैं।[32] और कहते हैं कि निदिध्यासन ध्यान के नहीं वरंच विज्ञान के निकट है। अत: सुरेश्वर का मत है कि उपासना के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार सम्भव नहीं है। उनका तर्क है कि जो उपासना विधि कर्मफल एवं कारक के भेद को लेकर आरम्भ होती है, वह अद्वैततत्त्वरूप ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण नहीं हो सकती। क्योंकि ब्रह्म के सम्बन्ध में कर्मादि का भेद सम्भव नहीं है। ब्रह्म साक्षात्कार का तो स्वरूप ही समस्त अविद्या की निवृत्ति है। जिस प्रकार

उपासना ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात् कारण नहीं है (Light on Vedants, p-206, 207)। इसके अतिरिक्त सुरेश्वराचार्य का कथन है कि उपासना की, कर्म की फलभूत उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, प्रयोग विधि एवं अधिकार विधि में से कोई भी ब्रह्म साक्षात्कार का साक्षात् कारण नहीं कही जा सकती (Light on Vedants, p-206, 207)।

सुरेश्वर के शिष्य सर्वज्ञात्मा के संक्षेपशारीरक में सर्वप्रथम हमें भक्ति के विशेष लक्षण प्रेमयुक्त भगवद्ध्यानरूपता का उल्लेख मिलता है। सर्वज्ञात्म ग्रन्थ के वन्दना श्लोकों में मुरारि के उस विकाररहित परमपद की प्रेमपूर्वक स्तुति करते हैं जो उनके अत्यन्त निकट हैं।[33] और उस अच्युत की वन्दना करते हैं जो उनके अभ्यन्तर में स्थित है।[34] इस स्तुति में प्रणयात् पद विशेष महत्वपूर्ण है। सर्वज्ञात्म की कृतियों में इतना उल्लेख प्राप्त नहीं है, जो कुछ प्राप्त होता है उससे यही निर्धारित होता है कि उनके भक्ति विषयक विचार अपने गुरु के ही समकक्ष थे जो सभी स्थानों पर शंकर के ही समान है।

डॉ० राममूर्ति शर्मा ने भी अपने ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त में उपासना ब्रह्म साक्षात्कार में कारण है या नहीं, इस समस्या के सम्बन्ध में कहा है कि उपासना के द्वारा चितशुद्धि होती है, इसीलिए वह परमात्मसाक्षात्कार में साक्षात्कारण तो नहीं है, परन्तु परम्परया ब्रह्मसाक्षात्कार की कारणता उसमें अवश्य सम्भव है। ब्रह्मसाक्षात्कार की कारणता उसमें सम्भव होने का कारण यह है कि ब्रह्मसाक्षात्कार हेतु चित का नैर्मल्य अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। (अद्वैत वेदान्त पृ० 226)

इन सभी अद्वैतानुयायियों ने सगुण ब्रह्म के विषय में ही श्रवण, कीर्तन, स्मरण, आदि के रूप भक्ति की संभवता स्वीकार की है, जो कि व्यावहारिक स्तर पर पल्लवित होती है। निर्गुण के विषय में जहां कहीं स्तुति आदि का प्रसंग आया है उन्होंने इन शब्दों को गौण अर्थों में स्वीकार किया है मुख्य अर्थों में नहीं। (संक्षेपशारीरक 1/4) पर टीका करते हुए रामतीर्थ 'स्तवीमि' का अर्थ आत्मा के स्वरूप निरूपण परक ग्रन्थ की रचना करता

हूँ' ऐसा करते हैं।[35] निर्गुण विषयक भक्ति को उन्होंने निदिध्यासन के रूप में ही स्वीकार किया है, क्योंकि गुणातीत ब्रह्म किसी ऐच्छिक मानसिक क्रिया का विषय नहीं बन सकता।

मधुसूदन सरस्वती यद्यपि अद्वैतानुयायी थे तथापि उन्होंने परमपुरुषार्थ की प्राप्ति में ज्ञानयोग के साथ–साथ भक्तियोग की साधनता भी प्रतिपादित की है। ज्ञानयोग के सन्दर्भ में जहां साध्य को 'तत्वज्ञान' या 'ब्रह्मविद्या' कहा गया है।, वहां भक्तियोग के सन्दर्भ में भक्ति पद से अभिहित किया है जो सर्वोच्च आनन्दाभिव्यक्ति की स्थिति है। यहां दो भिन्न शब्दों से अभिहित होने के कारण लक्ष्य में द्वित्व की शंका न हो, उसका निवारण करते हुए मधुसूदन सरस्वती अपने ''भक्तिरसायन'' में कहते हैं कि लक्ष्य अथवा पुरूषार्थ दो नहीं है, वह एक ही है, जो कि ''आनन्द'' है। प्राणियों के सभी व्यापार इसी आनन्द को पाने का लक्ष्य करके प्रेरित होते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की पुरूषार्थता इसी आनन्द प्राप्ति को लेकर है जैसे जीवन का साधन होने से हल को जीवन कह दिया जाता है, उसी प्रकार आनन्द प्राप्ति के साधन होने से इनमें पुरूषार्थत्व का व्यपदेश होता है। दुःखनिवृत्ति का भी पूर्ण सुख प्राप्ति में ही उपयोग है। ज्ञान योग का मार्ग भक्तियोग से भिन्न है, अतः इस साधनगत भिन्नता को लेकर साध्य को दो भिन्न नामों से उदाहृत किया जाता है। वस्तुतः वह एक ही है (भगवद् भक्ति रासायन, पृ० 14–15)। तो क्या साध्य के एक कह देने पर अन्तिम अवस्था में भक्त की आन्तरिक स्थिति ज्ञानी जैसी ही होती है। नहीं, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। इस भेद को स्पष्ट करने का भी मुधसूदन सरस्वती ने प्रयत्न किया है। वे कहते हैं कि ''भक्ति'', ''ब्रह्मविद्या'' से भिन्न है। ब्रह्मविद्या निर्विकल्पक मानसी वृत्ति है, जबकि भक्ति सविकल्प वृत्तिरूपा है।[36] 'ब्रह्मविद्या' में चित्त में द्रवीभाव नहीं होता जिज्ञासु भाव प्रधान रहता है अतः उस समय चितवृत्ति में प्रतिबिम्बित सच्चिदानन्द ब्रह्म मुख्यतया ज्ञान रूप से प्रतिभासित होता है। 'भक्ति' में इसके विपरीत चित का द्रवीभाव आवश्यक है, अतः द्रुतचित में प्रविष्ट सच्चिदानन्द परमात्मा का स्वरूप आनन्दमयत्वेन

ही प्रमुखतया भासित होता है। ज्ञानरूप में ब्रह्म ज्ञानमार्ग का आलम्बन होता है जबकि आनन्द रूप में भक्ति का।[37] अत: आनन्द ब्रह्मविद्या से अधिक भक्ति की साध्यावस्था में स्फुरित होता है, इसी कारण कभी-कभी भक्ति को मुक्ति या ब्रह्मविद्या से श्रेष्ठ कह दिया जाता है, जब कि वे दोनों वस्तुत: एक है। मूल रूप से साध्य के होने पर भी यह चित रूप साधन का अन्तर है जिससे साध्य का इस प्रकार द्वैविध्य आपतित होता है।

अत: मधुसूदन ने साधन और साध्य दोनों रूपों में 'भक्ति' को ज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या से पृथक् स्वतन्त्र स्थान प्रदान किया है। यद्यपि अन्तिम साध्यावस्था में दोनों अखण्डाकाराकारित चित-वृत्ति रूप ही है, परन्तु व्यवहार दशा में एक के ज्ञान-प्रधान-चित-व्याप्यता होने के कारण ''आनन्द'' का प्रचुर रूप में आस्वाद नहीं होता, जबकि दूसरे से द्रुतचित-व्याप्यता होने के कारण परमानन्द की अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि शंकराचार्य एवं मधुसूदन सरस्वती दोनों ने ही मोक्ष को साध्य रूप में स्वीकार किया है किन्तु दोनों की पद्धति का यह अन्तर उल्लेखनीय है कि जहां शंकराचार्य विशुद्ध ज्ञान से मोक्ष के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं वहां मधुसूदन सरस्वती भक्ति विशिष्ट ज्ञान के समर्थक है। यहां यह कहना अपेक्षित है कि मधुसूदन सरस्वती के द्वारा ब्रह्मानुभूति में भक्ति का मिश्रण करने के कारण सरसता का समावेश हो गया है।

सन्दर्भ :

1. हरिब्रह्ममृग्यं परब्रह्मरूपं मनोवागतीतं मह: शैवमीडे।। शिवभुजंगप्रयातस्तोत्रम्, श्लोक 2।।
2. सनातनाय, दिव्याय, देवाय, दिगंबराय शिवपंचाक्षर स्तोत्र श्लोक-5
3. त्वत्तो जगद्भवति देव भव स्मरारे त्वय्येव तिष्ठति जगन्मृड विश्वनाथ। वेदसारशिवस्तव:, श्लोक-11
4. तुरीयं तम: पारमाद्यंतहीनं प्रपद्ये परं पावनं द्वैतहीनम्।। वही, श्लोक - 7

5. नमस्ते नमस्ते विभो विश्वमूर्ते नमस्ते नमस्ते चिदानंदमूर्ते।। वेदसारशिवस्तव: श्लोक।8

6. भूतेश भीतभयूसदन मामनाथं संसारदु:खगहनाज्जगदीश रक्ष।। शिवनामवल्यष्टकम्, श्लोक - 1

7. विश्वेश विश्वभवनाशितविश्वरूप विश्वात्मक त्रिभुवनैकगुणाभिवेश। शिवनामावल्कयष्टकम्, श्लोक 8

8. न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा ने में धारणा ध्यानयोगादयोऽपि। अनात्माश्रयोऽहं ममाध्यासहानात्तदेको।।2।। न माता - पिता वा न देवा न लोका न वेदा न यज्ञा न तीर्थ ब्रुवंति। सुषुप्तौ निरस्तातिशून्यात्मकत्वादेको।। निर्वाणदशकम्, श्लोक 2,3

9. कृतस्थाणुस्थाना कुचफलनता सूक्तिसरसा रूजां हंत्री गंत्री विलसति चितदानंदलतिका।। आनन्दलहरी।6

10. नित्यानंदकरी वराभयकरी सौन्दर्यरत्नाकरी निर्धूताखिल घोरपावनकरी प्रत्यक्षमाहेश्वरी। अन्नपूर्णास्तोत्र, श्लोक (1)

11. योगानंदकरी रिपुक्षयकरी धर्मार्थनिष्ठाकरी चंद्रार्कानलभासमानलहरी त्रैलोक्यरक्षाकरी। अन्नपूर्णा - स्तोत्र, श्लोक - 3

12. सर्वानंदकरी दशाशुभकरी काशीपुराधीश्वरी भिक्षादेहि। अन्नपूर्णा - स्तोत्रम् श्लोक - 6

13. आमीलिताधर्मधिगम्य मुदा मुकुन्दमानन्दमन्दमनिमेषमनङ्गतन्त्रम्।
श्रीकनक लक्ष्मी स्तव:, श्लोक 3

14. अशेषजन्ममोहिनीमरूणभाल्भूषांबशं जपाकुसुमभासुरां जपविधौ स्मराम्यंबिकाम्। त्रिपुरसुन्दरी स्तोत्र, श्लोक - 7

15. स्थूला कुचे जलदनीला कुचे कलितलीला कदम्बविपिने, शूलायुधप्रणतिशीला विभातु हृदि शैलाधिराजतनया। अम्बाष्टकम्स्तोत्र, ण्लोक - 2

16. स्फुरितपुत्रादीदाननिपुणा। अम्बाष्टकम्स्तोत्र, श्लोक - 3

17. न मोक्षस्याकांक्षा न च विभववांछापि च न में। न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुन:।

अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै मृडानी रूद्राणी शिवशिवभवानीति जपत:।

देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रम् श्लोक - 8

18. आभातीदं विश्वमात्मन्यसत्यं सत्यज्ञानानंदरूपे विमोहात्। निद्रामोहात्स्वप्नवतन्न सत्यं शुद्धः पूर्णो नित्य एकः शिवोऽहम्। आत्मपंचकम्, श्लोक - 3

19. यदानंदरूपं प्रकाशस्वरूपं निरस्तप्रपंचं परिच्छेदशून्यम् अहंब्रह्मवृत्यैकगम्यं तुरीयं परं ब्रह्म।। विज्ञान नौका, श्लोक - 3

20. प्रत्यग्वस्तूनि निस्तरंगसहजानंदावबोधाम्बुधौ विप्रोऽयं श्रपचोऽयमित्यापि महान् कोयं विभेदभ्रमः। मनीषापंचक, श्लोक - 4

21. अन्तः करणतद्वृत्तिसाक्षी चैतन्यविग्रहः।
आनन्दरूपः सत्यः सन् किं नात्मानं प्रपधयसे ।। वाक्यवृतिः।।

22. तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मणं उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः।

ब्र० सू० शा० भा० 1/1

23. तान्येतानि उपासनानि सत्त्वशुद्धिकरत्वेन वस्तुतत्त्वावभासकाद्।

छान्दोग्योपनिषद् पर शंकर का प्रस्तावनाभाष्य

24. उपासनं तु यथाशास्त्रसमर्थितंकिञ्चिदालम्बनमुपादाय तस्मिन् समानचित्तवृत्ति-सन्तानकरणं तद्विलक्षणप्रत्ययानन्तरितम्।

छान्दोयोपनिषद् पर शंकर का प्रस्तावना भाष्य

25. परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषध वीर्यादीश्वरप्रसादात्संसिद्धस्य कस्यांचिदेवाविर्भवति। ब्र० सू० शा० भा० 2/3/41

26. तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति।

ब्र० सू० शा० भा० 2/3/41

27. प्रसिद्धं हि लोके आत्मा प्रियो भवतीति। तस्माज्ज्ञानिनः आत्मत्वादेव वासुदेवः प्रियो भवतीति।। श्री मद्भगवद्गीता पर शांकर भाष्य 3/17

28. मोक्षसाधनसामग्रयां भक्तिरेव गरीयसी। स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।।

वि० चू० 32

29. बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि साक्षान्मोक्षैकसाधनम्।
पाकस्य वह्निवज्ज्ञानं बिना मोक्षो न सिध्यति। आत्मबोध - 2

30. मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये। मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाऽम्भसोऽम्बुधौ लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्, देखिए भागवत की परिभाषा

31. It may, therefore, be practised both before and after the studies of the Upanishads continuing upto the time when the indirect or mediate knowledge of the Reality gained there-from becomes direct or experientia. Development and place of Bhakti in Shankara Vendanta by Dr. A.P. Misra.

32. अनुवादे यथोक्तानां प्रक्रान्ते दर्शनादिषु। विज्ञानेनेत्यथ कथं निदिध्यासनमुच्यते।। ध्यानशङ्कानिवृत्यर्थ विज्ञानेनेति भाष्येते। निदिध्यासनशब्देन ध्यानमाशङ्क्यते यतः।।

सुरेश्वर का बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक 2/4/5/232-33

33. अतिनिकटमविक्रियं मुरारेः परमपदं प्रणयादभिष्टवीमि। सं० शा० 1/1

34. प्रत्यन्चमच्युतमहं प्रणतोऽस्मि नित्यम्। सं० शा० 1/3

35. अभिष्टवीमि अभितः ..... आभिमुख्येन वा प्रत्यगभेदलक्षणेन स्तवीमि स्तवनं करोमि तत्स्वरूपनिरूपणपरं ग्रन्थं करोमीत्यर्थः - अनव्यार्थ प्रकाशिका, पृ० - 4, 7वीं पंक्ति

36. ननु तर्हि नामान्तरेण ब्रह्मविद्यैव भगवद्भक्तिरित्युक्तम्। .... न, स्वरूप साधनफला धिकारिवैलक्षण्याद्भक्ति - ब्रह्मविद्ययोः। द्रवीभावपूर्विका हि मनसो भगवदाकारता सविकल्पकवृत्तिरूपा भक्तिः, द्रवीभावानुपेताऽद्वितीयात्ममात्रगोचरा निर्विकल्पक मनोवृत्तिर्ब्रह्मविद्याः - भगवद्भक्तिरासायन, पृ० - 24 - 25

37. भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि। मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम्।।

भगवद्भक्तिरासायन, पृ० - 10

षष्ठ अध्याय

शंकराचार्य परवर्ती वैष्णव वेदान्त में आनन्द का स्वरूप

विशिष्टाद्वैतवाद एवं आनन्दवाद

शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों में रामानुजाचार्य अग्रगण्य हैं। इनका दार्शनिक सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद के नाम से प्रचलित है। इनके दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न जीव एवं जड़ जगत् ब्रह्म के शरीर, प्रकार एवं विशेषण कहे गए हैं। जीव चित् एवं जड़ जगत् अचित् है। चित् एवं अचित् से विशिष्ट ब्रह्म ही रामानुज दर्शन का विशिष्टाद्वैत तत्त्व है। इस प्रकार चित् एवं अचित् से विशिष्ट होने के कारण ही इस सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैत पड़ा है। किसी-किसी के मत में कार्य और कारण विशिष्ट अद्वैत ब्रह्म के आधार पर विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रचलन हुआ है।[1]

ब्रह्मः—रामानुज के वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म के आधार, नियन्ता, शासक एवं रक्षक, शेषी, प्रकारी, स्रष्टा एवं सुन्दर रूप के वर्णन प्रमुख है।

रामानुज ब्रह्म तथा जीव एवं जगत् में शरीर-शरीरी एवं आधाराधेय सम्बन्ध मानते हैं। शरीर की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है कि द्रव्य, जिसकी, आत्मा अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए रक्षा करता है तथा जिसे धारण करता है, जो आत्मा के अधीन रहता है उसे शरीर कहते हैं।[2] जिस प्रकार कि आत्मा सर्वात्मना शरीर को धारण करता है तथा उस पर नियमन करता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी जीव तथा जगत् को धारण करता है तथा उसका नियमन करता है। इस प्रकार चेतन जीव तथा अचेतन शरीर उस ब्रह्म के

शरीर है (श्री भाष्य 2/1/19)। ब्रह्म जब आत्मा रूप से जीव को धारण करता है तथा अन्तर्यामी रूप से उस पर शासन करते हुए कार्य में प्रवृत करता है, तो ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध आधाराधेय सम्बन्ध कहलाता है। इस सम्बन्ध के अनुसार ब्रह्म आधार एवं जगत् आधेय है। इस प्रकार शरीर-शरीरी-सम्बन्ध को आधाराधेय-सम्बन्ध भी कहते हैं।

रामानुज वेदान्त में आधार रूप ब्रह्म का वर्णन नियन्ता के रूप में भी किया गया है। तदनुसार नियन्ता परमात्मा पुरुषोत्तम रूप है। वह पुरुषोत्तम इसलिए है कि वह अपहत पाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, अविजिघित्त, तृष्णारहित, सत्यकाम एवं सत्य संकल्प है (श्री भाष्य 3/2/11)। परमात्मा के नियन्ता रूप के अनुसार जीव एवं जगत् की सत्ता स्थिति एवं प्रवृत्ति परमात्मा के संकल्प के अधीन है। यही उस परमात्मा का नियाम्यत्व है।

रामानुज वेदान्त में चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म को जहां नियन्ता कहा है, वहां उसके शासक एवं रक्षक रूप का भी व्यवस्थित एवं तर्क प्रतिष्ठित वर्णन प्राप्त होता है। रामानुज का शासक ब्रह्म जीवों को उनके कर्मों के अनुसार शुभ एवं अशुभ फल का देने वाला है। ब्रह्म के स्वभाव से परम कारूणिक होने पर उसकी कारूणिकता का यह अभिप्राय कदापि नहीं मानना चाहिए। कि वह पापी को दण्ड नहीं देता। आचारिक दृष्टि से पापी को दण्ड देना भी उस पर कृपा करना ही है (The philosophy of Vishisht advaita p-153)। ब्रह्म के शासक रूप के अतिरिक्त ब्रह्म का लोकरक्षक के रूप में भी वर्णन किया गया है। लोक रक्षा के कारण ईश्वर जगत् की रक्षा के लिए पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चा रूपों को ग्रहण करता है।[3]

रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म का शेषी रूप भी ग्रहण किया गया है। ब्रह्म ''शेषी'' एवं जीव ''शेष'' है। इस प्रकार ब्रह्म एवं जीव में ''शेष शेषी'' भाव है। ''शेष जीव ईश्वर का उपकारक है। जीव प्रत्येक कार्य ईश्वर के निर्देशानुसार ही करता है। इस प्रकार जीव एवं ब्रह्म का सेवक-स्वामी का सम्बन्ध है परन्तु भगवान् का ऐक्य परम भक्ति अथवा प्राप्ति द्वारा ही प्राप्य है।[4] रामानुजाचार्य द्वारा ब्रह्म का वर्णन प्रकारी रूप से भी किया गया है। ब्रह्म

प्रकारी और जीव एवं जगत् प्रकार है। अतः ब्रह्म एवं जीव तथा जगत् के अन्तर्गत प्रकार-प्रकारीभाव सम्बन्ध है। भोक्ता जीव, भोग्य जगत् एवं प्रेरक ईश्वर में स्वरूप भेद होने के कारण भेद होने पर भी प्रकार-प्रकारी भाव सम्बन्ध के द्वारा अभेद ही है (सर्वदर्शन संग्रह, 4/30), क्योंकि रामानुजाचार्य का ब्रह्म प्रकार विशिष्ट प्रकारी कहा गया है (Radhakrishnan. Indian Philosophy, Vol-11) P-685।

रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत सृष्टि का सापेक्ष विधान द्रष्टव्य है। इस सापेक्ष विधान के अनुसार प्रलय एवं सृष्टि ब्रह्म की दो अवस्थायें मात्र हैं। ब्रह्म की कारणावस्था प्रलय की स्थिति और कार्यावस्था सृष्टि की स्थिति है। प्रलयकारिक ब्रह्म कारणावस्था को प्राप्त होकर जब स्वेच्छा से सृष्टि करता है, तब सूक्ष्म भौतिक तत्व स्थूल दशा को प्राप्त होते हैं और फिर जीव अपने पूर्व जन्म के पाप एवं पुण्यों के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीरों में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार स्रष्टा ब्रह्म जगत् की सृष्टि विभिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुरूप ही करता है (श्रीभाष्य 2/1/34,35)।

जीवः- रामानुज दर्शन में जीव की अनन्त सत्ता स्वीकार की गई है।[5] उनके मतानुसार जीव ब्रह्म का प्रकार होने से सत्य, अद्वितीय, अनन्त, ज्ञान शक्ति सम्पन्न, चैतन्यस्वरूप, अवयव रहित, अपरिवर्तनीय, अगोचर एवं अणुरूप है।[6] जीव की सत्ता शरीर, इन्द्रियों, प्राण एवं बुद्धि से पृथक् है। जीव कर्ता एवं भोक्ता दोनों ही है। अणुरूप जीव का आधार स्थान हृत्पदम् है। सुषुप्ति अवस्था में जीव हृत्पदम् एवं परमात्मा का आश्रय लेकर विश्राम करता है (श्री भाष्य 3/2/9)। यद्यपि जीव अणु है परन्तु अणु होते हुए भी विस्तार एवं संकोचशील ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण शरीर के सुख-दुःख का भोक्ता बनता है। इस सम्बन्ध में श्री भाष्यकार ने एक उदाहरण देते हुए कहा है कि जिस प्रकार दीपक की ज्वाला लघु होते हुए भी अपने प्रकाश के द्वारा अनेक वस्तुओं को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार अणु जीव भी सुख-दुःख का भोक्ता बनता है। दीपक के विस्तार एवं संकोचशील प्रकाश के समान ही जीव का ज्ञान भी विस्तार एवं संकोच से

सम्पन्न है।

जीवों की संख्या अनन्त है। प्राणियों में सुख - दुःख का भिन्न - भिन्न विभाजन जीवों की अनन्तता को बतलाने वाला है। जीवों के जगत् में अनेक बार जन्म लेने पर भी उनके मूल रूप में परिवर्तन न होकर - बाह्य रूप में ही परिवर्तन होता है।

रामानुज दर्शन में जीव को ज्ञाता कहा गया है। बन्धन एवं मुक्ति दोनों अवस्थाओं में जीव का ज्ञातृत्व बना रहता है।[7] जीव एवं ब्रह्म में अद्वैतता न मान कर अंशांशि भाव का प्रतिपादन किया गया है। अंशांशि भाव के अनुसार ब्रह्म अंशी एवं जीव अंश है। जीव की अंशता से यह कभी नहीं समझना चाहिए कि जीव ब्रह्म का कोई पृथक् किया गया अंश है, क्योंकि ब्रह्म भेदों से रहित है (श्री भाष्य 2 / 3 / 42)। जीवों के ब्रह्म के विशेषण एवं ''प्रकार'' होने के कारण ही उन्हें ब्रह्म का अंश कहा गया है (श्री भाष्य 2 / 3 / 45)। रामानुज दर्शन के अन्तर्गत जीव के बद्ध, मुक्त एवं नित्य रूप से तीन भेद माने गए हैं।[8]

जगत्ः - विशिष्टाद्वैतवादी ब्रह्म एवं जगत् के शरीर - शरीरी एवं विशेषण विशेष्य सम्बन्ध के आधार पर जगत् को, ब्रह्म का शरीर एवं विशेषण होने के कारण मिथ्या नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार कि नील कमल का नीलत्व कमल से पृथक् नहीं कहा जा सकता है, उसी प्रकार जगत् की सत्ता भी ब्रह्म से पृथक् नहीं है। अतः शांकर वेदान्त में जगत् को जिस व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत बतलाया गया है, वहां रामानुज दर्शन में उसका वैपरीत्य है।

रामानुज दर्शन के अन्तर्गत उचित् जगत् भी उस प्रकार सत्य है जिस प्रकार कि ब्रह्म और जीव। मूलतः जगत् ब्रह्म और जीव दोनों से भिन्न है परन्तु साथ ही साथ ब्रह्म का विशेषण एवं प्रकार होने के कारण जगत् की सत्ता स्वतन्त्र नहीं है।[9] ब्रह्म की कार्यावस्था में सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट रूप से स्थित ब्रह्म स्वेच्छा से, विचित्र शक्ति के योग से नाम रूपात्मक जगत् एवं

जीवों की सृष्टि करता है।

मुक्तिः – रामानुज दर्शन के मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार जीव ब्रह्म के साथ ऐक्य को न प्राप्त होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है।[10] मुक्त जीव सर्वज्ञत्व एवं सत्यसंकल्पत्व को तो प्राप्त कर लेता है, परन्तु वह ईश्वर की तरह सर्वकर्त्तृत्व गुण से सम्पन्न नहीं होता।[11] मुक्त जीव को स्वराट् कहने का यही आशय है कि वह संसार के कर्मबन्धन से मुक्त होता है (श्रुत प्रकाशिका–श्री भाष्य 1/1/1)।

रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत जीवन मुक्ति को न स्वीकार करके केवल विदेह मुक्ति का ही समर्थन किया गया है। मुक्त जीव को कोई कामना न होने के कारण उसे फिर संसार में जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता (श्री भाष्य 4/4/22)। इसीलिए रामानुज वेदान्त में विदेहमुक्ति का समर्थन किया गया है। मुक्तावस्था में जीवात्मा, यों तो अनेक शरीरों में प्रवेश कर सकता है और स्रष्टा द्वारा यह अनेक लोकों का आनन्द ले सकता है, परन्तु स्रष्टा ब्रह्म की अपेक्षा जीव में दो न्यूनताएं स्पष्ट रूप से मिलती हैं। एक तो यह कि जीव अणु है और दूसरा यह कि जगत् की क्रियाओं के नियन्त्रण की शक्ति जीव में नहीं होती (श्री भाष्य 4/4/13,15)। ब्रह्म के पूर्ण तत्त्व होने के कारण उसके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की न्यूनता का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। वह तो सर्वशक्ति सम्पन्न तत्त्व है।

यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जीव का संकल्प कर्म से उत्पन्न होता है, इसलिए विकार या ज्ञान का संकोच कहा जाता है। परमात्मा का संकल्प इच्छा से उत्पन्न होता है, इसलिए आनन्द कहा जाता है। वह संकल्प सृष्टि विषयक का हो या रक्षण विषय का हो या संहार विषय का हो। वह संकल्प आनन्द ही होता है। इसी प्रकार जीव के सृष्टि विषयक आनन्द का आधार भी आनन्द मूलक ही है।[12] प्रलयावस्था में भी ईश्वर एवं जीव के सम्बन्ध में सुषुप्ति अवस्था में आनन्दानुभूति की बात कही है।[13]

रामानुज के श्री भाष्य के अन्तर्गत आनन्दमयाधिकरण' में परमात्मा

कर्मासक्त वाले बद्ध जीव से तथा मुक्त जीव से भी अन्य कहा जाता है। परमात्मा हेय गुणों का प्रत्यनीक है। और कल्याण गुणों से परिपूर्ण है। मुक्त जीवात्मा भी मुक्ति के पहले कर्म सम्बन्ध से युक्त थे। अतः वे मुक्त जीव हेय प्रत्यनीक नहीं है। नित्य जीव भी सर्वदा हेय गुणों से हीन होने पर भी परमात्मा के अधीन आनन्द से युक्त है। सब जीवों में जगत् शरीरकत्व रूप आनन्द नहीं है। जगत् शरीरकत्व नहीं तो जगत्कारणत्व नहीं। जगत्कारणत्व नहीं तो आवधिक आनन्द नहीं होता है। जैसे कार्य स्वरूप पुत्र और पौत्रादियों का आनन्द, पिता का आनन्द होता है वैसे कार्य प्रपंच का आनन्द भी परमात्मा का आनन्द होता है। आनन्दवल्ली मनुष्यानन्द से आरम्भ करके ब्रह्मानन्द तक आनन्दों का अभ्यास, गुण में, रूप में भी कर रही है इसलिए नित्य जीव भी अभ्यस्त आनन्द से हीन है। परमात्मा एक ही अभ्यस्त आनन्द से पूर्ण है। अतः बुद्ध, मुक्त और नित्य इन तीन प्रकार के जीवों से इस प्रपंच का बहुभवन संकल्प रूप आनन्द से युक्त परमात्मा अन्य है। (श्री भाष्य 1/1/6)।

यहां यह भी निरूपणीय है कि अन्य सभी वैष्णव वेदान्तियों के समान रामानुज भी पांच प्रकार की मुक्ति मानते हैं। ये हैं–सालोक्य मुक्ति। अर्थात् ब्रह्लोक की प्राप्ति। सृष्टि मुक्ति। अर्थात् ब्रह्म के ऐश्वर्य का उपभोग करना। सामीप्य मुक्ति। अर्थात् ब्रह्म से सामीप्य लाभ करना। सारूप्य मुक्ति। अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप का लाभ करना। और सायुज्य मुक्ति। अर्थात् ब्रह्म के साथ एकरूप हो जाना।[14]

अन्त में जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शंकराचार्य के अद्वैतवाद में जीव का पार्थक्य–भाव लय होकर उसका ब्रह्म हो जाना ही मुक्ति है। आत्मा अपने को पूर्णतः परमात्मा में लीन कर देता है, जिस से अन्ततः केवल ब्रह्म या परमतत्व ही रह जाता है। किन्तु रामानुज, जो कि सगुण ईश्वर के उपासक है, के अनुसार भक्त के ईश्वर–प्रेम की पूर्ण सन्तुष्टि के लिए आत्मशुद्धि और आत्मसमर्पण तो आवश्यक है, परन्तु आत्म–लय नहीं। भक्त के लिए सबसे बड़ा आनन्द है, ईश्वर की अनन्त महिमा का अनवरत

ध्यान और इसी आनन्द की अनुभूति के लिए उसका अपना आत्मा रहना आवश्यक है। समस्त प्रकार के अज्ञान और बन्धनों से मुक्त हो जाने पर, मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञान और भक्ति के साथ, ब्रह्म चिन्तन का असीम आनन्द अनुभव करता है (श्री भाष्य 4/4)।

शुद्धाद्वैतवाद एवं आनन्दवाद

शुद्धाद्वैतवाद वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त है। ब्रह्म के माया सम्बन्ध से अलिप्त होने के कारण ही वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद के नाम से प्रचलित हुआ है।[15] वल्लभ दर्शन के अन्तर्गत शुद्धाद्वैततत्व के रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है।

ब्रह्मः– वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूप माने गए हैं। शुद्धाद्वैत तत्त्व होने के कारण ब्रह्म निर्गुण तथा अनन्त ऐश्वर्य गुणों से युक्त होने के कारण सगुण है। ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप के विरोध का सामंजस्य प्रस्तुत करते हुए वल्लभाचार्य का कथन है कि जिस प्रकार एक ही ऋजु सर्प कुण्डलादि अनेक रूपों को ग्रहण कर लेने पर कुण्डलादि अनेकों रूपों में दिखाई पड़ता है, परन्तु सर्प और उसके कुण्डलादि में अभेद होता है, उसी प्रकार ब्रह्म का स्वरूप भी भक्त की इच्छा के अनुसार अनेक प्रकार से स्फुरित होता है।[16] वास्तव में ब्रह्म अद्वैत तत्त्व रूप ही है। ब्रह्म-स्वरूप निरूपण के सम्बन्ध में वल्लभाचार्य द्वारा दिए गए ''अहिकुण्डल'' दृष्टान्त में यह भेद प्रतीत होता है कि सर्प तो काल रूप से स्वेच्छानुसार कुण्डलादि अनेक रूपों को ग्रहण करता है, परन्तु वल्लभाचार्य का ब्रह्म एक ही काल में भक्त की इच्छा के अनुसार अनेक रूपों को प्राप्त होता है। इस प्रकार कहे गए वैषम्य के समाधान के लिए प्रकाशकार पुरुषोत्तमाचार्य का तर्क है कि भक्त की तादृश इच्छा की उत्पति में ईश्वर की तादृश-तादृश फल देने की इच्छा ही प्रयोजिका है। इसलिए कहे गए दृष्टान्त के अन्तर्गत वैषम्य देखना उचित नहीं है।[17]

वल्लभदर्शन के अन्तर्गत कारण रूप ब्रह्म एवं कार्य रूप जगत् में

भेद नहीं है। जगत् ब्रह्म की आविर्भाव दशा है। ब्रह्म की कारणता उसकी तिरोभाव दशा है। इस सम्बन्ध में प्रस्थान रत्नाकार पुरुषोत्तमाचार्य का कथन है कि उपादान ब्रह्म के कार्य की जो शक्ति व्यवहारगोचर करती है, वह आविर्भाविका है। इस प्रकार आविर्भाव व्यवहारयोग्यत्वं एवं तिरोभाव व्यवहारयोग्यत्व का नाम है।[18] वल्लभदर्शन पद्धति के अनुसार ब्रह्म जगत् का उपादान कारण एवं निमितकारण दोनों है। ब्रह्म के निमित्तकारणत्व के सम्बन्ध में तो कोई वैमत्य नहीं है, परन्तु उपादान कारणत्व विवेचन योग्य है। वल्लभदर्शन में ब्रह्म को समवायिकारण के रूप में स्वीकार किया गया है। परन्तु ब्रह्म की समवायिकारणता के विरोध में पूर्वपक्षी का कहना है कि यदि ब्रह्म को समवायिकारण माना जाएगा, तो ब्रह्म को भी विकार का विषय मानना पड़ेगा– **"समवायित्वेविकृतत्वस्यापत्तेः"** पूर्व पक्षी के इस कथन के विपरीत यह कहा जाएगा कि सत्, चित् एवं आनन्द रूप से सर्वव्यापी होने के कारण ब्रह्म समवायि कारण है। अतः वल्लभाचार्य का सिद्धान्त है कि ब्रह्म स्वेच्छा से सत्, चित् एवं आनन्द तत्त्वों के प्रभाव से भौतिक जगत् जीव एवं ब्रह्म रूप से व्यक्त होता है। इसलिए वल्लभ–दर्शनपद्धति के अन्तर्गत ब्रह्म जगत् का समवायिकारण है (पुरुषोत्तमाचार्य प्रकाश टीका, अणुभाष्य, प्रस्थान रत्नाकार, पृ०–159, पृ०–90)।

वल्लभवेदान्त के अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति है। माया मिथ्या नहीं है। ब्रह्म माया शक्ति के द्वारा ही अनेक रूपों में प्रकट होता है। इस प्रकार माया ब्रह्म की सहायिका शक्ति है।

जीवः– शुद्धाद्वैत–दर्शन के अनुसार जीव सृष्टि, ब्रह्म की लीला ही है, जो कि ब्रह्म की एक से अनेक होने की इच्छा स्वरूप प्रकट होती है। वल्लभाचार्य जी कहते हैं कि जब भगवान् को रमण करने की इच्छा होती है तब वे अपने आनन्दादि गुणों के अंशों को तिरोहित करके अपने चिदंश से जीवरूप ग्रहण करते हैं।[19] आचार्य जी का मत है कि भगवान् की इच्छा से प्रेरित जीव के ऐश्वर्य आदि छः गुण तिरोहित हो जाते हैं, तभी उसे अन्यथा ज्ञान होने लगता है और वह दुःख का भागी बन जाता है। ऐश्वर्य

के तिरोभाव से जीव पराधीनता एवं दीनता से युक्त होता है, वीर्य के तिरोभाव से सर्व दुःखों से समवेत होता है और ज्ञान के तिरोभाव से अनात्म वस्तु देहादि से तादात्म्य स्थापित कर लेता है।[20]

शुद्धाद्वैत दर्शन के अनुसार जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध अंश और अंशी का है (अणु भाष्य 2/3/43) अर्थात् जीव ब्रह्म का अंश है। जीव के अंश, अंशी सम्बन्ध को समझाने के लिए अग्नि और स्फुलिंग का दृष्टान्त दिया गया है, जो कि उपनिषदों पर आधारित है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है- जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप अग्नि से उसी के समान रूप वाले हजारों स्फुलिंग निकलते हैं, उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से अनेक भाव प्रकट होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं।[21] शुद्धाद्वैत दर्शन में भी इस रूपक को बहुत महत्त्व दिया गया है। अणुभाष्य में आचार्य जी लिखते हैं- ''विस्फुलिंगा इवाग्नेः हि जड़ जीवाः विनिर्गता'' अर्थात् जड़, जीव दोनों ही अग्नि से विस्फुलिंग की भांति निकलते हैं (अणुभाष्य 2/3/43)। श्री गिरिधर जी ने भी यही विचार व्यक्त किए हैं-'अग्नेयर्था विस्फुलिंगास्तथा जीवोद्गमः स्फुटः (शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, श्लोक 8)। परन्तु एक ही ब्रह्म से उद्गम होते हुए भी जीव और जड़ में अन्तर इसलिए है, क्योंकि जड़ ब्रह्म के सदंश से निकलते हैं और जीव ब्रह्म के चिदंश से। इसीलिए जड़ केवल सत्ता होती है, चेतना नहीं, जबकि जीव में दोनों होते हैं। अतः वल्लभाचार्य के अनुसार जिस प्रकार अग्नि और चिन्गारियों में कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म एवं जीव में भी स्वरूपगत अभेदत्व है।

वल्ल्भदर्शनपद्धति द्वारा प्रतिपादित जीव एवं ईश्वर का अंशांशिभाव सम्बन्ध वैष्णव एवं अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित जीवेश्वर सम्बन्ध से भिन्न है। अतः इनके अनुसार जीव ईश्वर के अंश होने के कारण ईश्वर से अभिन्न है। जीवों का जीवत्व ईश्वर की आविर्भाव एवं तिरोभाव क्रियाओं का फल है। आविर्भाव एवं तिरोभाव क्रियाओं के द्वारा ही ईश्वर की कुछ शक्तियों एवं गुण जीव में तिरोभूत हो जाते हैं और कुछ आविर्भूत हो जाते हैं।[22]

शुद्धाद्वैतदर्शन में जीव को अणु भी कहा गया है (अणुभाष्य

2/3/19)। अर्थात् आकार में वह आणविक है। यहां प्रश्न उठता है कि यह यदि अणु है, तो इसका गुण चेतना सारे शरीर में कैसे व्याप्त रहती है, इसके उत्तर में शुद्धाद्वैती कहते हैं कि इसका चैतन्य गुण विसर्पि है अर्थात् फैलने वाला है।[23] इस प्रकार वल्लभदर्शन जीव को अणु रूप में प्रस्तुत करता है, और इसीलिए वल्लभ ने अपने ब्रह्म-सूत्र का नाम भी अणुभाष्य ही रखा है, किन्तु यहां उल्लेखनीय है कि जीव का यह अणुरूप शाश्वत नहीं है, केवल आनन्दांश के तिरोहित रहने तक ही जीव अणु है, आनन्दांश के आविर्भूत होने पर जीव व्यापक स्वरूप हो जाता है, मुक्तावस्था में उसे आनन्द की पूर्ण अनुभूति होने लगती है।

शुद्धाद्वैत में जीवों के शुद्ध, संसारी और मुक्त, यह तीन भेद बतलाए गए हैं। आनन्दांश के तिरोधान के फलस्वरूप अविद्या से सम्बन्ध होने से पहले जीव की शुद्धावस्था कहलाती है। जब जीव का अविद्या से सम्बन्ध हो जाता है और जब जीव जन्मादि क्रियाओं के बन्धन का विषय हो जाता है तो उसे संसारी कहते हैं। संसारी जीव भी द्वैत और आसुर भेद से दो प्रकार के होते हैं। मुक्त जीव वे जीव हैं जो ईश्वर के अनुग्रह से सच्चिदानन्द रूप को प्राप्त कर ईश्वराभिन्नत्व को प्राप्त होते हैं।

जगत्ः- जगत् के सम्बन्ध में शुद्धाद्वैत का विचार है कि जगत् पूर्णतः सत्य है, और उतना ही सत्य है जितना कि ब्रह्म। अन्य वेदान्ती आचार्यों की भांति वल्लभाचार्य का भी कहना है कि जगत् कार्य है और उसका कारण ब्रह्म है। किन्तु किस प्रकार ब्रह्म जगत् की रचना करता है और जगत् का स्वरूप कैसा है? इस विषय में वल्लभाचार्य कहते हैं कि जगत् पूर्ण सत्यता रखता है। उसकी रचना और स्थिति ब्रह्म की सत् इच्छा पर आश्रित है।[24] श्री गिरिधर जी का कथन है कि इस जगत् का कारण ब्रह्म है, इसकी पुष्टि व्यास के ''जन्माद्यस्ययतः, शास्त्रयो नित्वात्'' इत्यादि सूत्रों से होती है तथा 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतियों से भी, ब्रह्म जगत् का कारण प्रतीत होता है[25] अर्थात् अजन्मा भगवान् स्वयं जगत् को उत्पन्न करता है, उसकी रक्षा करता है और उसका संहार भी

करता है। इस प्रकार सत्य ब्रह्म द्वारा उत्पन्न यह जगत् कभी असत् नहीं हो सकता।

वल्लभ-दर्शन पद्धति के अन्तर्गत जीव के समान जगत् भी ईश्वर का ही रूप है और वह ईश्वर से अभिन्न है।[26] जगत् ईश्वर की आविर्भाविका शक्ति का ही फल है। ईश्वर स्वेच्छा से आविर्भाविका शक्ति के द्वारा जगत् रूप में आविर्भूत होता है और तिरोभाविकाशक्ति के द्वारा समस्त जीवों एवं जगत् का ईश्वर में तिरोधान हो जाता है। तत्त्वार्थदीप में आचार्य जी कहते हैं, ब्रह्म से ही पदार्थों का आविर्भाव और ब्रह्म में ही उनका तिरोभाव होता है।[27] यह ब्रह्म की शक्ति है जिससे वह एक से अनेक और अनेक से एक होता है।[28] इस प्रकार जगत् ईश्वर का रूप होने के कारण अद्वैत वेदान्त की तरह मिथ्या नहीं है। ईश्वर ही समस्त जगत् का शासक तथा नियन्ता है।

वल्लभदर्शन के अनुसार जगत् एवं संसार में भेद की स्थापना की गई है। ईश्वरेच्छा से प्रादुर्भूत पदार्थों को जगत् कहते हैं। इसके विपरीत स्वरूप ज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास एवं अन्तःकरणाध्यास, अविद्या के इन पंच पर्वो के द्वारा जीवों की बुद्धि में जगत् के पदार्थों के सम्बन्ध में जो द्वैतमूलक भ्रम उत्पन्न हो जाता है, उसे संसार कहते हैं। उदाहरण के लिए संसार बुद्धि के अनुसार जीव, जगत् के घटादि पदार्थों की सत्ता ईश्वर से पृथक् समझते हैं। यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् मिथ्या न होकर उपर्युक्त द्वैतमूलक संसार ही मिथ्या है।

भक्तिः - वल्लभाचार्य ने स्नेह को भक्ति का प्रमुख तत्त्व माना है। उन्हीं के शब्दों में भक्ति की परिभाषा है भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान होने पर भगवान् के प्रति जो सुदृढ़ एवं सर्वाधिक स्नेह होता है, वही भक्ति है।[29]

वल्लभाचार्य का भक्ति सिद्धान्त पुष्टिमार्ग के नाम से प्रख्यात है। पुष्टि का अर्थ है भगवान् का अनुग्रह (पोषणं तदनुग्रहः श्रीमद्भागवत

2/101)। इस प्रकार वल्लभदर्शन के अनुसार भगवदनुग्रह ही मुक्ति का प्रधान कारण माना गया है। इसलिए वल्लभदर्शन का भक्ति सिद्धान्त पुष्टिमार्ग के नाम से अभिहित होता है। पुष्टि मार्ग के अनुसार भगवत् प्राप्ति के लिए ज्ञानादि की अपेक्षा नहीं है (अणुभाष्य 3/3/29)।

मुक्तिः – वल्लभदर्शन के अन्तर्गत भगवत् माहात्म्य ज्ञानपूर्विका भक्ति ही मुक्ति का कारण है। अतः ज्ञान एवं भक्ति द्वारा प्राप्त मुक्ति की स्थिति में भी अन्तर होना स्वाभाविक है। वल्लभदर्शन के अनुसार जीव मुक्तावस्था में भी कर्मरत रहते हैं, इनमें कुछ जीव इस प्रकार के हैं जो पूर्व बन्धन से मुक्त हो गए हैं। इस प्रकार के जीवों में सनकादि आते है। दूसरे प्रकार के जीव वे हैं जो ब्रह्मलोक की प्राप्ति करके, भगवान् के अनुग्रह से मुक्ति प्राप्त करते हैं, इसके अतिरिक्त तीसरे प्रकार के जीव वे हैं, जो एकमात्र भगवान् की भक्ति का आश्रय प्राप्त करते हैं और फिर पूर्ण भगवत् प्रेम के द्वारा ईश्वर सायुज्य की उपलब्धि करते हैं।[30]

वल्लभ दर्शन के मोक्ष सम्बन्धी विचार निम्नलिखित हैं: –

(क) नित्यानन्द प्राप्ति

वल्लभदर्शन में मोक्ष को नित्यानन्द की प्राप्ति माना गया है जिसका एकमात्र साधन भक्ति है और जिसमें सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व ईश्वर की कृपा है। पुष्टिमार्ग, वस्तुतः वाल्लभ मत का मोक्ष मार्ग है, जो श्री कृष्ण की कृपा पर आधारित है। जगत् और जीव पुरुणोत्तम श्री कृष्ण की नित्यलीला के लिए क्रीड़ा के साधन हैं, अतः वे जीव बन्धन में हैं, जो इस नित्य लीला से दूर रहते हैं, मुक्त जीव उसकी लीला में प्रविष्ट होकर उस लीला का आनन्द लाभ करते हैं। यह कृपा केवल भक्तों पर ही होती है। मुक्ति यद्यपि ज्ञानियों को भी मिलती है। जिसमें ''ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' तथा ज्ञानादेव च कैवल्यमिति' आदि प्रमाण भी हैं, पर श्रुति यह भी कहती है ''न स पुनरावर्तते' अर्थात् ज्ञानी का लय ब्रह्म में हो जाता है, अतः उसका पुनरावर्तन नहीं होता। किन्तु अति दुर्लभ लीला स्वाद तो केवल भक्तों को

ही होता है।[31] पुष्टि भक्त इसी की कामना करते हैं। अणुभाष्य में आचार्य जी पुष्टि मार्ग का फल ही यह बताते हैं कि मनुष्य स्थूल-लिंग शरीर को छोड़कर तथा भगवत्लीलोपयोगी देह पाने के पश्चात् ब्रह्म के साथ आनन्द रस ले (अणुभाष्य 4/1/19)। वैष्णवाचार्यों ने प्रायः सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य, इन चार प्रकार की मुक्ति की अवस्थाओं को माना है, आचार्य जी भी इसे स्वीकार करते हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त एक और ''सायुज्य अनुरूपा'' मुक्ति को श्रेष्ठतम कहते हैं, जिसमें मुक्त जीव पूर्ण पुरुषोत्तम की लीला में प्रविष्ट होकर उस लीला का आनन्दलाभ प्राप्त करता है। इसे ''स्वरूपानंद'' अवस्था भी शुद्धाद्वैत में कहा गया है।[32]

(ख) सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति

अणुभाष्य में आचार्य जी ने 'सद्योमुक्ति'' और क्रममुक्ति' का उल्लेख किया है। इसमें से सद्योमुक्ति का अर्थ है, जहां मुक्ति बिना भिन्न-भिन्न लोकों में जाए और बिना प्रारब्ध को भोगे ही हो जाती है। यहां भगवान् स्वयं भक्त के प्रारब्ध कर्मों का नाश, अपने अनुग्रह से करते हैं। भक्त के वियोग दुःख को बचाने के लिए वे परमदयालु उसे जीवन्मुक्त की दशा में प्रारब्ध कर्म भोगने के लिए नहीं रहने देते, वरन् उसे आनन्द विग्रह देकर, अपनी नित्य रसात्मक लीला में ले लेते हैं (अणुभाष्य 4/1/19)। पुष्टि भक्त इसी सद्योमुक्ति को प्राप्त करता है। क्रममुक्ति ज्ञानमार्गियों को मिलती है। अग्निहोत्रादि कर्म, उपासना और ज्ञान के साधन-क्रम में अनेक अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्रादि लोकों में होकर ज्ञानी ज्योतिर्मयब्रह्म को प्राप्त करता है (अणुभाष्य 4/3/32)।

(ग) मुक्ति से भक्ति की श्रेष्ठता

वाल्लभ मत में यद्यपि मोक्ष सम्बन्धी विचार प्रस्तुत हुए हैं किन्तु यहां इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जिस साधन-मार्ग अर्थात् पुष्टिमार्ग को अपनाया गया है, उसे लक्ष्य की अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण माना गया है अर्थात् यहां भक्ति मुक्ति से भी अधिक श्रेष्ठ मानी गई है। भक्त सदैव

भक्ति की ही चाहना करता है, क्योंकि इसी से उसे आनन्दानुभव होता है। शंकराचार्य की मोक्षावस्था में आनन्द आत्मिक है, परन्तु वल्लभ मत में भक्त को जो रसानुभव होता है, वह इन्द्रियों तथा अन्त: करण के द्वारा ही होता है। वल्लभचार्य कहते हैं कि इन्द्रियों तथा अन्त: करण के द्वारा आनन्द का अनुभव करने वाले भक्तों की महत्ता जीवन्मुक्तों से भी अधिक है (तत्त्वदीप निबन्ध पर बल्लभाचार्य की टीका पृ० – 77)

अत: वल्लभ दर्शन के अन्तर्गत यद्यपि भक्ति मुक्ति का साधन है, परन्तु उसका महत्त्व मुक्ति से भी अधिक है। इसलिए वल्लभमतानुसार मोक्ष प्राप्ति के दो साधन हैं एक भक्ति और दूसरा ज्ञान। भक्ति द्वारा जिस परमानन्द की प्राप्ति होती है वह ज्ञान द्वारा असम्भव है। भक्ति भी मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति रूप से दो प्रकार की है। मर्यादा भक्ति के अनुसार भक्त साधना एवं शास्त्रानुकूल आचरण के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है और पुष्टि भक्ति द्वारा भक्त भगवान को सर्वात्मना – आत्मसमर्पण कर देता है। भगवदनुग्रह के द्वारा जीव को मुक्ति लाभ होता है। भागवत में भगवदनुग्रह को ही पोषण या पुष्टि कहा गया है (भागवत 2 – 10 पोषणं तदनुग्रह)। यही कारण है कि यह सिद्धान्त पुष्टि मार्ग के नाम से प्रचलित हुआ है। मुक्त हो जाने पर जीव का ब्रह्म के साथ अभेद सम्बन्ध हो जाता है। मुक्त जीव में तिरोहित आनन्दांश का पुन: प्रादुर्भाव हो जाता है।[33] इसलिए मुक्त जीव भगवान् के साथ अभेद आनन्द को प्राप्त करता है।

द्वैताद्वैतवाद एवं आनन्दवाद

निम्बार्क दर्शन में भी चित्, अचित् एवं ईश्वर रूप से तीन तत्त्व माने गए हैं। चित् तत्त्व जीव एवं अचित् तत्त्व जगत् का बोधक है। आचार्य निम्बार्क के अनुसार ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में आश्रयाश्रित सम्बन्ध है। जीव एवं जगत् ईश्वर के आश्रित तथा ईश्वर आश्रय है।

निम्बार्काचार्य के अनुसार ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में अभेद भी है और भेद भी। इस प्रकार निम्बार्क दर्शन में जीव एवं जगत् के

आश्रितत्वादि स्वभाव एवं अचेतनत्वादि विशेषणों के ईश्वर के आश्रयत्वादि स्वभाव एवं कल्याण विशेषणों से विरुद्ध होने के कारण ईश्वर तथा जीव एवं जगत् का भेद स्पष्ट ही है। परन्तु जीव तथा जगत् की सत्ता आश्रय रूप ईश्वर के बिना असम्भव है, अत: ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में अभेद भी है।[34] इस प्रकार ईश्वर, जीव एवं जगत् में भेद भी है और अभेद भी। अब यहां द्वैताद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर, जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का सक्षेपत: विवेचन किया जाएगा।

ईश्वरः – निम्बार्कदर्शन के अन्तर्गत सगुण ब्रह्म की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की गई है। ब्रह्म को समस्त दोषों से रहित एवं अशेष कल्याण गुणों से सम्पन्न कहा है (दशश्लोकी 4)। जीव एवं जगत् की सत्ता स्वतन्त्र न होकर ईश्वराधीन है, इसीलिए ईश्वर इनका नियन्ता कहलाता है (दशश्लोकी 71)। प्रलयकाल में जीव एवं जगत् ईश्वर में लीन हो जाते हैं। प्रलय एवं सृष्टि के पुनर्निर्माण काल के बीच जीव एवं जगत् सूक्ष्म रूप से ईश्वर में ही स्थित रहते हैं। सर्वशक्तिमान होने के कारण ईश्वर अपनी इच्छामात्र से ही समस्त संसार की सृष्टि में समर्थ होता है (निम्बार्क भाष्य, ब्रह्मसूत्र 1/1/19)। निम्बार्क परिणामवादी है। निम्बार्क ईश्वर को उपादानकारण एवं निमित्त कारण दोनों ही मानते हैं।

जीवः – निम्बार्क दर्शन में जीवों को अनन्त एवं अणु रूप बतलाया गया है, परन्तु अणु होते हुए भी जीव का यह वैशिष्ट्य है कि सार्वत्रिक ज्ञान के कारण शरीर के सुख दुःखादि का अनुभव करने में समर्थ होता है। जीव बद्ध एवं मुक्त दोनों अवस्थाओं में ही कर्तृत्व से युक्त रहता है। परन्तु यहां यह कह देना और अपेक्षित होगा कि जीव स्वतन्त्र रूप से कर्ता नहीं है। उसका कर्तृत्व ईश्वर के अधीन है। जीव ज्ञाता एवं भोक्ता भी है, परन्तु कर्तृत्व के समान ही जीव का ज्ञातृत्व एवं भोक्तृत्व भी परमेश्वर के ही आश्रित हैं।

साधारणतया बद्ध एवं मुक्त रूप से जीवों के दो भेद हैं। बद्ध जीव मुमुक्षु तथा बुभुक्षु रूप से दो प्रकार के हैं। मुमुक्षु एवं बुभुक्षु जीवों का यह

अन्तर द्रष्टव्य है कि मुमुक्षु जीव मुक्ति का इच्छुक होता है और बुभुक्षु जीव विषयानन्द का इच्छुक। इसी प्रकार मुक्त जीवों के भी नित्य मुक्त एवं मुक्त रूप से दो भेद बतलाए गये हैं। नित्य मुक्त जीवों में गरुड़ एवं विश्वक्सेन आदि आते हैं। नित्यमुक्त जीव भगवान् के पार्षद रूप में परमानन्द की प्राप्ति करते हैं। इसके विपरीत वे मुक्त जीव हैं जो अपनी साधना के बल से संसार चक्र से मुक्ति प्राप्त करते हैं। निम्बार्काचार्य का कथन है कि मुक्ति की प्राप्ति भगवत्प्रसाद के द्वारा सम्भव है (दशश्लोकी – 2)। निम्बार्क दर्शन के अनुसार जीव तथा ईश्वर में अंशांशीभाव सम्बन्ध है। जीव अंश एवं ईश्वर अंशी है, परन्तु द्वैताद्वैतवादी के अनुसार अंश शब्द का अर्थ अवयव नहीं हैं। वेदान्त पारिजात सौरभ (निम्बार्क भाष्य) के टीकाकार श्री निवासाचार्य ने अंश शब्द का अर्थ 'भक्ति' किया है।[35] अतः सर्वशक्तिमान् होने के कारण ही ईश्वर को अंशी कहा गया है। इस प्रकार जीव एवं ईश्वर में अंशांशिभाव के द्वारा शक्ति एवं शक्तिमान् का सम्बन्ध है।

जगतः – निम्बार्क दर्शन में जगत् अचित् स्वरूप है। यह अचित् जगत् भी अप्राकृत, प्राकृत एवं काल भेद से तीन प्रकार का है। अप्राकृत जगत् वह जगत् कहलाता है जो प्रकृति के गुणों से निर्मित नहीं है। इस प्रकार के जगत् में भगवान् का लोक और उनके अलंकार आदि पदार्थ आते हैं। प्राकृत जगत् से उस जगत् का आशय है, जो प्रकृति द्वारा उत्पन्न हुआ है। इसमें महत्त्व से लेकर महाभूतों तक के पदार्थ आते हैं। प्राकृत पदार्थों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति सांख्य की प्रकृति के समान त्रिगुणात्मक तो है, किन्तु सांख्य की प्रकृति के समान स्वतन्त्र न होकर ईश्वर द्वारा नियन्त्रित रहती है। जगत् के कालतत्त्व का स्वरूप प्राकृत एवं अप्राकृत स्वरूप से भिन्न है। काल ही संसार चक्र का नियामक है परन्तु यह भी ईश्वर द्वारा शासित है। काल, मूलतया अखण्ड है, परन्तु उपाधि के कारण इसके प्रातरादि अनेक भेद हैं।

मुक्तिः – जीव, अनादि त्रिगुणात्मिका एवं प्रकृति स्परूप माया से आवृत्त होने के कारण अपने धर्मभूत ज्ञान से वंचित रहता है। भगवान् के

अनुग्रह से ही जीव को अपने वास्तविक रूप का ज्ञान होता है।[36] निम्बार्क दर्शन का यह वैशिष्ट्य है कि उसके अनुसार मुक्तावस्था में भी जीव के द्वारा उपासना का विधान बतलाया गया है। निम्बार्क दर्शन के अनुसार मुक्ति इस संसार अवस्था में सम्भव नहीं है। सांसारिक देह का विनाश होने पर ही जीव को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

जहां तक निम्बार्क दर्शन के अन्तर्गत आनन्दानुभव का प्रश्न है, भक्त भगवान की शरण में रहकर सायुज्य लाभ करता हुआ परमानन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार निम्बार्क दर्शन का भक्त का वह आनन्द है जिसके सामने संसार के समस्त आनन्द नगण्य हैं।

द्वैतावाद एवं आनन्दवाद

मध्वाचार्य के अद्वैतवाद के एकदम विरोधी द्वैतवाद सिद्धान्त की स्थापना की थी। आचार्य मध्व जीव एवं जगत् को मिथ्या न मानकर सत्य सिद्ध करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म, जीव एवं जड़ जगत् में अभेद न मानकर भेद सिद्ध करना मध्व दर्शन की प्रमुख विशेषता है।[37] अद्वैत सिद्धान्त के समर्थक तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति, एकमेवाद्वयं ब्रह्म आदि वाक्य भी आचार्य मध्व की अदभुत कल्पना के अनुसार द्वैतासिद्धान्त के ही समर्थक है। यहां उक्त सिद्धान्त वाक्यों के सम्बन्ध में मध्व दर्शन की दृष्टि से विचार करना उपयुक्त होगा। आचार्य मध्व 'तत्त्वमसि' से जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य को न स्वीकार करके यह अर्थ ग्रहण करते हैं कि जीवात्मा एवं परमात्मा की मूलभूत विशेषताओं में साम्य है (मध्यभाष्य, ब्र० सू० 2/3/39)। इस सम्बन्ध में माध्वाचार्य ने अपने भाष्य में जीवों और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन करते हुए भविष्य पुराण का एक श्लोक भी उद्धृत किया हैं।[38] उन्होंने तत्त्वमसि का अर्थ त्वम् तदीयः असि एवम् त्वम् तस्य असि भी स्वीकार किया है।[39] आचार्य मध्व 'स आत्मा तत्त्वमसि' को 'स आत्मा अतत्त्वमसि' के रूप में ग्रहण करते हैं।[40] 'अयं आत्मा ब्रह्म' को आचार्य मध्व जीवात्मा की प्रशंसा तथा ध्यान की दृष्टि से कहा गया मानते हैं।[41] 'अयमात्मा ब्रह्म' वाक्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य मध्व ने शब्दों

का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ ग्रहण किया है। व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के ही आधार पर मध्वाचार्य ने उक्त वाक्य के अन्तर्गत जीवात्मा या ब्रह्म का वर्णन माना है। जीवात्मा का वर्णन मानने पर मध्वाचार्य ने 'अयमात्मा ब्रह्म' का अर्थ किया है- यह जीवात्मा बर्धनशील है।[42]

मध्वाचार्य ने पांच प्रकार के भेद की स्थापना की थी। यह भेद ईश्वर और जीव, ईश्वर और जड़ जगत्, जीव और जगत्, जीव और जीव तथा जड़ और जड़ का भेद है।[43] इस भेदवाद के आधार पर ही आचार्य मध्व ने द्वैतवाद सिद्धान्त की स्थापना की है। अब यहां ईश्वर, जीव एवं जगत् आदि के सम्बन्ध में आचार्य मध्व के विचार का वर्णन किया जाएगा। इससे उनका द्वैत दर्णन भी स्पण्ट हो जाएगा।

ईश्वरः – ईश्वर के सम्बन्ध में मध्व का विचार है कि परमात्मा वेदों द्वारा जानने योग्य है। (मध्व भाष्य 3/3/1)। ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र के व्याख्यान के प्रसंग में मध्व ने ईश्वर सम्बन्धी विवेचन को भी स्थान दिया है। तदनुसार सूत्रकार ने जिस ब्रह्म जिज्ञासा को प्राथमिक उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया है वह बिना ईश्वर की कृपा के सम्भव नहीं है वही सभी प्रकार की मनोवृत्तियों का प्रेरक है,[44] परब्रह्म ही विण्णु है।[45] मध्वाचार्य का कथन है कि परमेश्वर की अवाच्यता का यही आणय है कि उसका पूर्ण ज्ञान होना कठिन है (मध्वभाष्य 1/1/5)। ब्रह्म को मध्व ने विष्णु का रूप प्रदान किया है। विष्णु ही संसार का पूर्ण रूप से शासन करते हैं, वे ही संसार के स्रण्टा एवं संहारकर्ता है।[46] इसके अतिरिक्त मध्व विष्णु को सभी जीवों का अन्तर्यामी मानते हैं (मध्वभाण्य 1/2/13)। विष्णु संसार के कल्याणार्थ मत्स्यादि रूप से अवतार ग्रहण करते हैं। विष्णु के समस्त अवतार पूर्ण हैं।[47] परन्तु मध्व ईश्वर को उपादान कारण न मानकर, कारण ही मानते हैं। मध्व का कहना है कि जो ईश्वर ज्ञान स्वरूप है उससे जड़ जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार सम्भव है (GLate : The vedanta P-34)।

लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है। वह परमात्मा के भिन्न एवं केवल उसी के अधीन है। (मध्व सिद्धान्त सार पृ० – 26)। परमात्मा की तरह लक्ष्मी

नित्यमुक्ता तथा देश एवं काल की दृष्टि से परमात्मा के ही समान व्यापक है।[48]

जीवः – मध्व दर्शन में जीव परमात्मा से भिन्न है तथा समस्त जीव परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं। परमाणु प्रदेश में रहने वाले जीव अनन्त है।[49] समस्त जीवों का आधार परमात्मा है। परमात्मा ही जीवों को उनके पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार कर्म करने के लिए प्रवृत्त करता है (मध्यभाष्य ब्र० सू० 2/3/41,42)। मध्वाचार्य का कहना है कि जीव की स्वप्नकल्पना भी ईश्वर की इच्छा पर आधारित है (मध्वभाष्य 3/2/3,5)। अन्य सभी वैष्णव मतों के समान मध्व जीव को अणु परिमाण का मानते हैं। चैतन्य के कारण ही वह सम्पूर्ण देह की अनुभूति कराने में सक्षम होता है। जैसे दीप का प्रकाश पूरे कक्ष को आलोकित करता है, वैसे ही जीवात्मा भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। अपने वैशिष्ट्य के कारण वह ऐसा करने में समर्थ है।[50] जैसे चन्दन एक स्थान पर स्थित होने पर भी सम्पूर्ण शरीर को सुवासित करता है, वही स्थिति जीवात्मा की है।[51] अतः जीव अणु परिमाण होने के कारण सर्वव्यापक ब्रह्म की सत्ता से पृथक् है। यद्यपि जीव अज्ञान, मोह, दुःख एवं भयादि दोषों से पूर्ण है तथापि उसका स्वभाव आनन्द ही है। मुक्तावस्था में जीव अपने मूल स्वभाव आनन्द स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

जगत्ः – मध्व दर्शन के अनुसार प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। ईश्वर उपादानकारणभूता प्रकृति से अनेकानेक रूपों की सृष्टि करता है। स्वयं ईश्वर प्रकृति के अनेक रूपों में वर्तमान रहता है। इस प्रकार प्रकृति भी परमात्मा का ही रूप है। व्यक्तावस्था में प्रकृति के –महत्, अंहकार, बुद्धि, मन, दशेन्द्रियां, पंचतन्मात्राएं और क्षित्यादि पंचतत्त्व, ये चतुर्विंशति तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। अव्यक्तावस्था में, मूल प्रकृति में ये तत्त्व सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहते हैं। लक्ष्मी अपने श्री, भू एवं दुर्गा रूप के द्वारा त्रिगुणात्मिका प्रकृति की अध्यक्षता करती है। मध्वदर्शन के अनुसार अविद्या प्रकृति का ही रूप है (मध्वभाष्य 1/4/25)। इस अविद्या के ही जीवाच्छादिका एवं परमाच्छादिका, ये दो रूप हैं। अवद्यिा जीवाच्छादिका रूप

में जीव की आध्यात्मिक शक्ति को आच्छन्न कर लेती है और अपने परमाच्छादिका रूप में परमात्मा को आवृत कर लेती है। परमाच्छादिक अविद्या के आवरण के कारण ही जीव परमात्मा का साक्षात्कार करने में असमर्थ होता है (Radha Krishnan Indian Philosophy, Vol II, P-745)।

द्वैतमतानुयायी विद्वान् ब्रह्मोपादान को न मानकर ईश्वर को निमित्त कारण के रूप में स्वीकृत करते हैं। प्रकृति उसके अधीन है एवं वही जगत् का उपादान कारण है न कि ईश्वर (मध्व ब्र० सू० भा० 2/1/15)।

मुक्तिः – मध्व समर्थित मुक्ति के अनुसार भगवान् विष्णु का साक्षात्कार है (Thate, the Vedanan p-34)। माध्वमत के अनुसार मुक्त पुरुष आनन्दानुभव अवश्य करता है परन्तु आनन्दानुभूति में भी परस्पर तारत्म्य होता है। मुक्तावस्था में प्रत्येक जीव का आनन्दानुभव भिन्न होता है।[52]

मध्व दर्शन के अनुसार मुक्ति की, कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अर्चिरादि मार्ग एवं भोग, ये चार अवस्थाएं मानी गई है। भोग के भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सामुज्य रूप से चार भेद हैं। सालोक्य के अनुसार जीव स्वर्ग में निवास करता हुआ सन्तोषपूर्वक आनन्द का भोग करके सदा ईण्वर साक्षात्कार करता है। सामीप्य में जीव सदा भगवान् के समीप स्थित रहता है तथा सारूप्य में जीव बाह्य रूप से भगवान् का तदरूप प्राप्त करता है। सायुज्य में जीव भगवान् के शरीर में प्रवेश करके उन्हीं के शरीर से आनन्द का भोग करता है।[53] जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि जीवों के आनन्द की स्थिति भिन्न-भिन्न है। मध्व दर्शन के अनुसार जीव की मुक्ति के लिए वैराग्य, शम दमादि का सम्पादन, स्वाध्याय, शरणागतिभाव, गुरु सेवा, शास्त्रश्रवण, मनन, ईश्वरार्पणबुद्धि एवं ईश्वरोपासना आवश्यक है।

मध्व आनन्द तारत्म्य की चर्चा करते हैं। वे कहते हैं कि मुक्त आत्माओं का उपभोग किया जाने वाला ब्रह्मानन्दगुण, उपभोग की गहनता, उपभोग के काल के अनुसार भिन्नता लिए हुए होता है। मुक्तात्माओं द्वारा

उपभोग किए जाने वाले ब्रह्मानन्द में एक क्रम है। कोई भी आत्माएँ ब्रह्मानन्द का एक समान उपभोग नहीं कर सकती। मध्व का कठोर अनेकात्मवाद मोक्ष की अवस्था में भी वर्तमान रहता है। मध्व कहते हैं कि ऐसे विभिन्न आकारों के बर्तनों के समान, जो सागर से अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार जल ग्रहण करते हैं, जीव भी अपनी आन्तरिक क्षमता के अनुसार, जो कि प्रत्येक जीव में भिन्न-भिन्न है, ब्रह्मानन्द का उपभोग कर सकते हैं। मध्व कहते हैं कि मोक्ष में विभिन्न आत्माएँ निम्नलिखित क्रम में ब्रह्मानन्द का उपभोग करती हैं। साधारण मनुष्य मोक्ष में जिस आनन्द का उपभोग करता है उससे मुक्त चक्रवर्तियों का आनन्द सौ गुना अधिक है। मुक्त चक्रवर्तियों के आनन्द की अपेक्षा मुक्त पितरों का आनन्द सौ गुणा अधिक है। मुक्त पितरों की अपेक्षा मुक्त ऋषियों का आनन्द सौ गुणा अधिक है। उनके आनन्द की अपेक्षा सौ गुना अधिक आनन्द मुक्त देवों का है। मुक्त देवों की अपेक्षा मुक्त उमापति का आनन्द सौ गुणा अधिक है। मुक्त उमापति के आनन्द की अपेक्षा मुक्त ब्रह्मा और मुक्त गरुड़ का आनन्द सौ गुना अधिक है। मुक्त ब्रह्मा का आनन्द भगवान् विष्णु के आनन्द सागर की एक छोटी सी बूंद ही है। भगवान् विष्णु का आनन्द हमारी कल्पना से परे है। मध्व कहते हैं कि आनन्द तारत्म्य के उपर्युक्त क्रम में जो नीचे के सोपानं पर है उनका आनन्द जो उनके ऊपर के सोपान पर है उनके आनन्द का प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार सभी मुक्त पुरुषों का आनन्द भगवान् विष्णु के आनन्द का प्रतिबिम्ब मात्र है (बृ० उ० 43 तथा 3-6 पर मध्वभाष्य)।

संक्षेप में मध्वमतानुसार भगवान् विष्णु के दर्शन एवं साक्षात्कार से साधक भक्त को अद्‌भुत आनन्द का लाभ होता है। इस प्रकार मध्व के आनन्द की पृष्ठभूमि भक्ति परक ही है।

चैतन्यमहाप्रभु की आनन्दवादी दृष्टि

स्वयं महाप्रभु चैतन्य ने कोई दार्शनिक ग्रन्थ नहीं लिखा है। उनके दार्शनिक विचारों की जानकारी के यतकिंचिद बीज उनके चरित् ग्रन्थों में

ही देखे जा सकते हैं जो उनके अनुयायियों द्वारा लिखे गये हैं।

महाप्रभु चैतन्य का सिद्धान्त अचिन्त्यभेदाभेदवाद है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत भगवान् की शक्ति अचिन्त्य है। अत: भगवान् और जगत में भेद है या अभेद, यह भी अचिन्त्य ही है। इसीलिए इस सिद्धान्त का नाम अचिन्त्यभेदाभेदवाद पड़ा।[54] भेदाभेद के अचिन्त्य होने के कारण चैतन्य-सम्प्रदाय के अनुरुप जगत् मिथ्या न होकर सत्य है। प्रलयकाल में भी जगत् भगवान् के साथ उसी प्रकार सूक्ष्म रूप से स्थित रहता है। जिस प्रकार कि रात्रि में पक्षी वन में लीन हो जाता है।[55] चैतन्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत ब्रह्म को निर्गुण न स्वीकार करके पूर्णतया सगुण माना गया है। उनके सम्प्रदाय के अन्तर्गत भगवान् की शक्ति के तीन रूप हैं - विष्णु शक्ति, क्षेत्रज्ञ शक्ति, और अविद्या णक्ति।[56] विष्णु शक्ति के भी ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित् भेद से तीन भेद हैं, सत्, चित् एवं आनन्द शक्तियां परा-शक्ति या विष्णु शक्ति के अन्तर्गत वर्तमान है। क्षेत्रज्ञ शक्ति (जीव शक्ति) एवं अविद्या शक्ति भगवान् की परा शक्ति के अन्तर्गत नहीं है।

चैतन्यदर्शन का ब्रह्म प्राकृत गुणों से रहित होते हुए भी अप्राकृत विशेषताओं से विशिष्ट है। श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत माया के द्वारा ईश्वर के नियन्तृत्व की विचारणा मिलती है।[57] माया शक्ति से सम्पन्न चैतन्य दर्शन का ईश्वर भी जीवों का नियन्ता है। अपनी अचिन्त्य शक्तियों के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है। ईश्वर द्वारा सृष्ट जगत् यद्यपि मिथ्या नहीं है, परन्तु 'यदुत्पादि विनाशितत्' के अनुसार विनाशशील अवश्य है।

चैतन्य सम्प्रदाय के भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त का संकेत हमें चैतन्य एवं रामानन्द के संवादों में मिलता है। रामानन्द का कथन है कि वर्णाश्रम व्यवस्थागत कर्मों के करने पर भगवान् की भक्ति की प्राप्ति होती है।[58] परन्तु भक्तरसामृतसिन्धुकार का मत चैतन्य चरितामृतकार के उक्त मत से भिन्न है। भक्तिरसामृतसिन्धुकार का कथन है कि उत्तमाभक्ति समस्त अभिलाषाओं से शून्य तथा ज्ञान-कर्मादि से अनावृत है। इस प्रकार आनुकूल्य के साथ भगवान् कृष्ण का अनुसेवन ही भक्ति है।[59] परन्तु यहां

ये उल्लेखनीय है कि चैतन्य रामानन्द के इस उपर्युक्त मत से सहमत नहीं थे कि वर्णाश्रमव्यवस्थागत कर्मों के विधान से भक्ति की उपलब्धि होती है। चैतन्य की उक्त असहमति देखकर रामानन्द, भक्ति की एक और उच्चतर स्थिति मानते हैं, जिसके अनुसार भक्त ईश्वर प्राप्ति का अनुष्ठान करते हुए समस्त कामनाओं का त्याग कर देता है। इसके बाद भक्ति की वह स्थिति आती है जिसके अनुसार भक्त भगवत् प्रेम के द्वारा समस्त कर्म विधान का त्याग कर देता है। इसके पश्चात् भक्ति की वह ज्ञानगर्भित स्थिति आती है जिसमें भक्त को भगवान् के माहात्म्य एवं स्वभाव का ज्ञान भक्ति का बाधक न होकर साधक ही है।[60]

पंचधा भक्तिः – भगवान् के प्रति भक्त जो स्वभाविक एवं अविच्छेद्य अनुराग होता है, उसे प्रेमाभक्ति कहते हैं। इसके पांचभेद हैं। यह पांच भेद शान्त दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधूर्य हैं।

शुद्धाभक्तिः – चैतन्य ने शुद्धाभक्ति की पृथक् रूप से चर्चा की है। चैतन्य के मतानुसार शुद्धा भक्ति वह है, जिसमें भक्त समस्त कामनाओं, वैधानिक उपासनाओं, ज्ञान एवं कर्म का त्याग कर देता है और अपनी समस्त इन्द्रियों के सामर्थ्य से एकमात्र कृष्ण में ही लीन हो जाता है।[61] शुद्धाभक्ति सम्पन्न भक्त भगवान् से किसी प्रकार की कामना-पूर्ति की इच्छा नहीं करता। उसे केवल भगवत्-अनुराग में ही आनन्द आता है। भगवान का आनन्द दो प्रकार का कहा जा सकता है - शुद्ध आनन्द के रूप में उसका स्वरूप (स्वरूपानन्द) तथा उसकी शक्तियों के आनन्द के सक्रिय पक्ष में उसका स्वरूप (स्वरूप शक्त्यानन्द)। स्वरूप शक्त्यानन्दुपनः दो प्रकार का होता है - मानसानंद एवं ऐश्वर्यानंद अर्थात् 'भक्ति' की सक्रिय प्रक्रिया के रूप में आनन्द तथा उसके ऐश्वर्य में आनन्द। (षट् सन्दर्भ, पृ० - 722)।

प्रमुख रूप से चैतन्य महाप्रभु की आनन्दवादी दृष्टि की यह विशेषता है कि तदनुरुप भक्त भगवान् के स्मरण, चिन्तन एवं संकीर्तन से ही परमानन्द का लाभ करता है। इस प्रकार महाप्रभु की परम्परा का आनन्द

भी भक्ति का विशिष्ट आनन्द हैं।

वैष्णवदर्शन में आनन्दवाद की भक्तिमूलक चेतना

वैष्णव दर्शन के अन्तर्गत ज्ञान की अपेक्षा मोक्ष साधन में भक्ति को ही प्रधानता दी गई है। वे भगवान के साकार, सगुण, सविशेष भाव को ही मानते हैं। भगवान, अनन्त कल्याण, गुण-निकेतन, समस्त प्राकृतगुण-विहीन, हेयप्रत्यनीक है। विदेह मुक्ति की कल्पना ही सर्वत्र आदरणीय है जीवन्मुक्ति की नहीं। देह धारण के समय जीव के दुःख क्षय होने पर भी सदा के लिए क्षीण नहीं हो जाते। विदेह मुक्ति होने पर ही जीव भगवान् के सन्निधान में उनकी सेवा करता हुआ आनन्दमय जीवन व्यतीत करता है। वैष्णव दर्शनों के अनुसार मुक्तात्माओं को भी भजन के लिए शरीर की प्राप्ति तो होती ही है, परन्तु यह शरीर शुद्ध सत्व के उपादान से रचित होने के कारण अप्राकृत होता है। नित्य शरीर के आश्रय से ही जीव भगवान् के साथ लीलाएं करने में समर्थ है। वैष्णव दर्शन में सामीप्यादि जो चार प्रकार की मुक्ति की कल्पना की गई है, उसमें भी भगवान् तथा भक्त का किंचिदंश में भेद बना ही रहता है। सायुज्य में दोनों की एकरूपता होने पर भी किञ्चिन्मात्र भेद उसी प्रकार रहता है, जिस प्रकार दो वृतों को एक दूसरे के ऊपर रखने से एकाकार होने पर भी उनमें परस्पर भेद किञ्चिन्मात्र में अवश्य ही रहता है।

इस प्रकार जीव, ईश्वर और मुक्ति आदि की कल्पना में साम्य होने पर भी जीवेश्वर के विषय में इन विभिन्न वैष्णवसम्प्रदायों में पार्थक्य है। चैतन्यमत भगवान् में अचिन्त्य शक्ति के कारण 'अचिन्त्येभेदाभेद के सिद्धान्त का पोषक है तो वल्लभ मत माया सम्बन्ध रहित शुद्ध ब्रह्म की एकता में विश्वास करता है। माध्वमत स्पष्टतः जीवेश्वर में द्वैतभाव का समर्थक है। रामानुज चित् अचित् को भगवान के गुण या प्रकार मानकर उभय विशिष्ट ब्रह्म की अद्वैतता मानते हैं। निम्बार्क चित् अचित् को ईश्वर से भिन्न तथा अभिन्न मानकर 'भेदाभेद' का समर्थन करते हैं।

अत: जहां तक आनन्द का सम्बन्ध है। रामानुज दर्शन के अनुसार विशिष्टाद्वैत ब्रह्म ही आनन्दात्मक सत्ता है। निम्बार्क दर्शन के अनुसार भक्त के आनन्द के समक्ष संसार के समस्त आनन्द नगण्य है। वल्लभ मत में जीव के मुक्त हो जाने पर उसका ब्रह्म के साथ अभेद हो जाता है, तब पुन: लुप्त आनन्दांश की उत्पत्ति हो जाती है।

माध्व मत के सन्दर्भ में उल्लेख करते हुए यह कहना अपेक्षित है, कि, क्योंकि माध्व दर्शन एक द्वैतवादी दर्शन है, अत: उसके अन्तर्गत जीवों के पृथक्-पृथक् अनुभव होते हैं। मध्वाचार्य के अनुसार परमात्मा विष्णु स्वरूप हैं तथा संसार का संहार करता है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि मध्वमतानुसार भगवान् विण्णु के दर्शन एवं साक्षात्कार से साधक भक्त का अद्भुत आनन्द का लाभ होता है। इस प्रकार मध्वमतानुसार भी आनन्द की पृष्ठभूमि भक्ति परक ही है। चैतन्यमहाप्रभु की आनन्दवादी दृष्टि के अनुसार भक्त भगवान् के स्मरण चिन्तन एवं संकीर्तन से ही परमानन्द का लाभ करता है।

सन्दर्भ :

1. Three Great Acharyas, Foot Note, p-137
2. यस्य चैतन्यस्य यद् द्रव्यम् सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तुम् धारयितुं च शक्यम् तच्चेष्टैकस्वरूपं च तत् तस्य शरीरम्। - श्री भाष्य 2/1/19
3. एवं प्रकार ईश्वर: पर व्यूहविभवान्तर्याम्यवतार रूपेण पंचप्रकार:, -यतिपतिमतदीपिका नवम अवतार, पृ०-40
4. रहस्यत्रय, अध्याय 3, पृ०-22 अद्वैत वेदान्त, पृ०-252 से उद्धृत
5. M. Hiriyanna : Outlines of Indian Philosophy, p-405
6. श्री भाष्य 2/2/19-32, 2/3/18, यतिपतिमतदीपिका 8।
7. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol-II, P-692
8. संजीवस्त्रिविध: - बद्धमुक्तनित्य भेदात्- यतिपतिमतदीपिका, पृ०-321
9. Ghate : The Vedanta, P-28
10. ब्रह्मणो भाव: न तु स्वरूपैक्यम्।- श्री भाष्य 1/1/1

11. एवं गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च। सर्वकर्तृत्वमेवैकं तेभ्योदेवे विशिष्यते।
सर्वदर्शनसंग्रह 4/43 तथा देखिए श्री भाष्य 4/4/17

12. श्री भाष्य (चतुस्सूत्री भागः) भूमिका, पृ० – 7

13. तदानीमेतावीश्वरगप्राज्ञौ चैतन्य – प्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्ति भिरानन्दमनुभवत।
वेदान्त सार, पृ० – 29

14. श्री मद्भागवत् 3/29/13
द्रष्टव्य भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ० – 209

15. माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यतेबुधैः। कार्यकारणरूपं हि शुद्धंब्रह्म न मायिकम्।
शुद्धाद्वैतमार्तण्ड 28

16. अणुभाष्य- ब्र० सू० 3/2/27 चौखम्बा संस्करण- (906)

17. पुरुषोत्तमाचार्य प्रकाशटीका, अणुभाष्य 3/2/27

18. उपादानस्य कार्यम् या व्यवहारगोचरं करोति साशक्तिराविर्भाविका.... तिरोभावश्च तदयोग्यत्वम्। प्रस्थान रत्नाकर, पृ० – 26

19. तदिच्छा मात्रतस्माद् ब्रह्मभूतांश चेतनाः सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया।
तत्वदीप निबन्ध, 31

20. ईश्वरेच्छय जीवस्यभववद्धर्म तिरोभावः ऐश्वर्यतिरोभावाद दीनत्वं पराधीनत्वं वीर्यतिरोभावात् सर्वदुःख सहनं- अणुभाष्य 3.2.5

21. यथा सुदिप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः, सहस्त्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद् विविधा सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति। मु० उ० 2/1/1

22. Dr. S.N. Das Gupta: Indian Philosophy, Vol-IV, (P-367)

23. विसर्पि गुण चैतन्योऽणुजीवोऽशो हरेः स्मृतः। शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, श्लोक 10
जीवस्य हि चैतन्यं गुणः स सर्वशरीरव्यापी अणुभाष्य टीका, 2/3/25, 26

24. ब्रह्मत्वेनैव जगत् सत्यत्वम्- अणुभाष्य 1/4/23

25. जन्माद्यस्येत्यादिसूत्रैर्व्यसि पादैनिरूपितम्। यतो वेत्यादिवाक्येषु वेदे स्पष्ट प्रतीये।।
शुद्धाद्वैत मार्तण्ड 7

26. तत्त्वदीपन पर वल्लभाचार्य की टीका पृ० – 106 देखिए अद्वैत वेदान्त पृ०, 281

27. आविर्भाव तिरोभावौ पदार्थानाम् पतस्ततः। द्रष्टव्य श्रीमद्वल्लभाचार्यः उनका शुद्धाद्वैतवाद एवं पुष्टिमार्ग पृ० 50

28. आविर्भाव तिरोभावौर्मोहनम् बहुरूपतः।

29. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़: सर्वतोऽधिक:। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तयामुक्तिर्नचान्यथा।।
तत्वार्थदीप, पृ० - 60

30. Radha Krishnan : Indian Philosophy, Vol-II (P-760)

31. ये तुज्ञानैक सन्निष्ठास्तेषां च लय एवं हि। भक्तानामेव भवति लीलास्वादोऽति दुर्लभ:।। शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, 93

32. श्री मद्वल्लभाचार्य उनका शुद्धाद्वैत एवं पुष्टिमार्ग, पृ० - 59

33. Radha Krishnan, Indian Philosophy, Vol-II (P-758)

34. Radha Krishnan, Indian Philosophy, Vol-II (P-753)

35. अंशोहिशक्तिरूपोग्राह्य:। वेदान्तकौस्तुभ ब्र० सू० 2/3/42

36. वेदान्त - रत्न - मंजूषा, पृ० - 20 - 23

37. Ghate : The Vedanta, P-33

38. भिन्ना: जीवा: परोभिन्नस्तथापिज्ञानरूपत:।
प्रोच्यन्ते ब्रह्मरूपेण वेदवादेषुसर्वश:।।
भविष्यपुराण मध्वभाष्य 2/3/29 के अन्तर्गत उद्धृत

39. Ghate : The Vedanta. P-34.

40. Radha Krishnan: Indian Philosophy, Vol-II, P-746.

41. वही, पृ० - 746

42. Ghate : The Vedanta, P-34.

43. सकलाचार्यमत संग्रह, पृ० - 17

44. परस्य ब्रह्मणो विष्णो: प्रसादात् इति वा भवेत्। ब्र० सू० भा० 1/1/1

45. स हि सर्वमनोवृत्तिप्रेरक: समुदाहृत:। ब्र० सू० शा० भा० पृ० - 6

46. सृष्टिस्थितिसंहारनियमनज्ञानाबन्धमोक्षा: यत:। ब्र० सू० शा० भा० पृ० - 6

47. अवतारादयो विष्णो: सर्वेपूर्णा: प्रकीर्तिता:।
पूर्णच, तत् परंपूर्ण पूर्णात् पूर्णा: समुद्गता:।। - मध्ववृहद्भाष्यम्
बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० - 481 से उद्धृत

48. द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परम: प्रकृतिस्तथा। देशत: कालतश्चैव समव्याप्ताबुभावजौ।।
बलदेव उपाध्याय, भारतीयदर्शन, पृ० 482 से उद्धृत।

49. परमाणुप्रदेशेषूवनन्ताः प्राणिराशयः। मध्वाचार्य, तत्वनिर्णय

50. Dr. S.N. Dasgupta : "According to him, the view that Jiva is atomic in size and not all pervading. Being in one place it can vitalize the whole body just as a lamp can illuminate a room by its light which is quality of the lamp, for substance may be pervading by virtue of its quality.
A History of Indian Philosophy, P-146.

51. अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति।
यथा व्याप्यशरीराणि हरिचन्दन-विप्नुषः ब्र० सू० शा० भा० 2/3/3-5

52. दुःखाभावः परानन्दो लिंगभेदाः समामताः।
तथापि परमानन्दो ज्ञान भेदात्तु भिद्यते।
मध्वसिद्धान्तसार, पृ० - 32
अद्वैत वेदान्त, पृ० - 277 से उद्धृत

53. Dr. S.N. Das Gupta: Indian Philosophy, Vol-IV. P-318.

54. स्वरूपादिभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः,
भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते
इति शक्तिशक्तिमतो भेदाभेदावंगीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ।
स्वमतेतु अचिन्त्य भेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात्।
(जीव गोस्वामी, सर्वसंवादिनी)

55. 'आत्मावाइद' मित्यादौ वनलीनविहंगवत्
सत्वं विश्वस्य मन्तव्यमित्युक्तं वेदवेदिभिः।। (प्रमेयरत्नावली 3/2)

56. विष्णुशक्तिः पराप्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते।। विष्णु पुराण 6/7/61

57. भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। गीता (18/61)

58. देखिए-चैतन्यचरितामृतमध्यलीला में अष्टम अध्याय के अन्तर्गत चैतन्य एवं रामानन्द का संवाद।

59. आनुकूल्येन कृष्णानुसेवनं भक्तिरूतमा।
भक्तिरसामृतसिन्धु, 1/1/11

60. Dr. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol.-IV, P-392

61. चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, 29

सप्तम अध्याय

शांकर वेदान्त के आनन्दवाद का संक्षिप्त वर्णन एवं आधुनिक दृष्टि

शांकर वेदान्त का परम साध्य मोक्ष अथवा ब्रह्म एवं आनन्द तत्त्व ही है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म, मोक्ष तथा आनन्द अपर पर्याय स्वरूप है। सात अध्यायों में विभाजित इस पुस्तक में विशेषत: शांकर वेदान्त की परिधि आनन्द तत्त्व का वर्णन किया गया है। प्रथम अध्याय में आनन्द शब्द का अर्थ एवं स्वरूप विश्लेषण है। जिसमें मानव जीवन में आनन्द के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार लौकिक आनन्द का लाभ करके मनुष्य प्रफुल्लित अनुभव करता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक आनन्द का लाभ करने के पश्चात् मनुष्य परम एवं असीम आनन्द का लाभ करता है, जो कि शाश्वत आनन्द है। इसी अध्याय में लौकिक जीवन एवं आनन्द, आध्यात्मिक जीवन एवं आनन्द तथा आनन्द के विविध स्वरूप का उल्लेख किया है। लौकिक जीवन एवं आनन्द में लौकिक जीवन से अभिप्राय सांसारिक जीवन से है, और इस संसार में विषयों के प्रति त्याग और स्वात्म स्वरूप का ज्ञान होना ही आनन्द है, क्योंकि लौकिक-सुख क्षणिक एवं अवास्तविक ही है। आध्यात्मिक जीवन से अभिप्राय है कि मानव अनन्त आनन्द की प्राप्ति हेतु अपना ध्यान धार्मिक प्रवृत्तियों की ओर लगाता है और परम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु निष्काम भाव से कर्म करते हुए, स्वात्म-स्वरूप को जानने के लिए धार्मिक कार्यों में प्रवृत्त रहता हुआ, जीवन व्यतीत करता है। आध्यात्मिक आनन्द, लौकिक आनन्द के विपरीत शाश्वत एवं परमानन्द

है, वह आनन्द वासनाओं के नियन्त्रण में निहित है। आनन्द के विविध स्वरूप में बताया है कि आनन्द के अनेक स्वरूप देखने को मिलते हैं, जिनमें लौकिक एवं अलौकिक स्वरूप प्रमुख है। जहां लौकिक आनन्द का सम्बन्ध भौतिक विषयों से है वहां आध्यात्मिक आनन्द नितान्त आत्मिक है। इसी अध्याय के अनन्तर दार्शनिक दृष्टि से आनन्द के स्वरूप पर विचार, शांकर वेदान्त में आनन्द की स्वरूप प्रतिष्ठा एवं आनन्दवाद के सम्बन्ध में किए गए अध्ययन तथा प्रस्तुत अध्ययन की विशेषताएं का वर्णन किया गया है। ''दार्शनिक दृष्टि से आनन्द के स्वरूप पर विचार'' करते हुए कहा गया है कि दार्शनिक आनन्द का स्वरूप लौकिक एवं आध्यात्मिक आनन्द की अपेक्षा अधिक विश्लेषणपरक है एवं लौकिक आनन्द की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मतर है तथा आध्यात्मिक आनन्द की अपेक्षा विविध तत्त्वों से अधिक सम्बन्धित है। ''शांकर वेदान्त में आनन्द की स्वरूप प्रतिष्ठा'' में बताया है कि शंकराचार्य का दर्शन ही आनन्दवाद है, क्योंकि आचार्य ने चरमलक्ष्य के रूप में जिस ब्रह्म एवं मोक्ष की प्रतिष्ठा की थी, वह आनन्द का ही स्वरूप है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत ''आनन्दवाद की पृष्ठभूमि'' वर्णित है। जिसमें संहिताओं में आनन्द की पृष्ठभूमि, उपनिषदों में आनन्दवाद का स्वरूप, श्रीमद्भगवद्गीता में आनन्दवादी धारणा, श्रीमद्भागवत और आनन्दवाद का वर्णन किया गया है। ''संहिताओं में आनन्द की पृष्ठभूमि'' के अन्तर्गत वर्णन किया है कि यद्यपि संहिताओं में मोक्ष का सैद्धान्तिक निरूपण एवं व्याख्या तो नहीं प्राप्त होती, परन्तु आनन्दस्वरूप मोक्ष के पुष्ट अवश्य मिलते हैं। किन्तु वहां भी आत्मा के आनन्द स्वरूप होने का संकेत ग्रहण किया गया है। ऋग्वैदिक ऋषि के जीवन का चरम उद्देश्य ही मोक्ष था। ''उपनिषदों में आनन्दवाद का स्वरूप'' में ब्रह्म को सत्‌चित् एवं आनन्द स्वरूप कहा गया है। ''श्रीमद्भगवद्गीता में आनन्दवादी धारणा'' में वर्णित है कि श्रीमद्भगवद्गीता में सभी शास्त्रों का सारभूत तत्त्व निहित है। गीता के अनुसार यह दृश्यवर्ग मायामय, क्षणिक एवं नाशवान है और एक

सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म ही सर्वत्र समभाव से परिपूर्ण है। ''श्रीमद्भागवत और आनन्दवाद'' में वर्णित किया गया है कि श्रीमद्भागवत में एकमात्र नारायण के अस्तित्व को ही स्वीकार किया गया है तथा जो ये सूक्ष्म और स्थूल शरीर है वे अविद्या से ही आत्मा में आरोपित है, जिस अवस्था में आत्मस्वरूप के ज्ञान से यह आरोप दूर हो जाता है, उसी समय ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। जिस समय यह बुद्धिरूपा परमेश्वर की माया निवृत्त हो जाती है, उस समय जीव परमानन्दमय हो जाता है और अपनी स्वरूप महिमा में प्रतिष्ठित होता है। वहां यह भी बताया गया है कि श्रीमद्भागवत भक्ति का परम ग्रन्थ है, किन्तु इसके अन्तर्गत भक्ति एवं अद्वैत दोनों के सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। भक्तों का आनन्द, जहां भगवान् के सगुण रूप पर आधारित है वहां अद्वैतियों का आनन्द ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप पर आधारित है।

तृतीय अध्याय ''शांकर वेदान्त में आनन्दवाद का स्वरूप'' है, जिसके अनन्तर ''शांकराचार्य की आनन्दवादी दृष्टि'' में कहा गया है कि ब्रह्मानुभवकर्ता तत्त्वज्ञानी के लिए सर्वत्र तथा सर्वदा आनन्द का अनुभव होता है। इसी के अन्तर्गत अविद्या निवृत्ति तथा आनन्द, अविद्या तथा ऐहिक सुख, अहंब्रह्मास्मि तथा आनन्द, आनन्द की आध्यात्मिकता, पंचकोश एवं आनन्द का वर्णन किया गया है। ''अविद्या निवृत्ति तथा आनन्द'' में वर्णित है कि अविद्या निवृत्ति से अभिप्राय अखिल अनर्थ-रूप विक्षेप के निकल जाने से है। अनर्थ-रूप विक्षेप के निकल जाने पर आनन्द-स्फुरण स्वतः ही होने लगता है। ''अविद्या तथा ऐहिक सुख में कहा गया है कि संसार में विषयों से प्राप्त होने वाले सुखों का कारण अविद्या है। वेदान्त में तो मात्र ऐहिक सुख ही नहीं अपितु आमुष्मिक स्वर्गादि सुख भी हेय कहे गए है। ''अहंब्रह्मास्मि तथा आनन्द'' के अन्तर्गत, अहंब्रह्मास्मि वृत्ति की स्थिति होने के कारण मानसिक स्तर पर आनन्द की अवस्था है जबकि मोक्ष एवं तत्त्वज्ञान की स्थिति शाश्वत आनन्द की स्थिति है। अतः इस अवस्था को आनन्द शून्य नहीं कहा जा सकता। ''आनन्द की आध्यात्मिकता'' में यह

बताया है कि आत्मसाक्षात्कार होने पर अर्थात् ब्रह्मानुभव होने पर ही आनन्द की आध्यात्मिक स्थिति है। पंचकोश एवं आनन्द में वर्णित है कि जो अन्मयादि कोश है, वह आत्मा नहीं है क्योंकि अन्मय शरीर की उत्पत्ति घट की उत्त्पत्ति के समान है और संसार के जितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे नाशवान् हैं। इसी प्रकार प्राण चैतन्य-रहित है, मन विकारी और कामादि विभिन्न वृत्तियों के द्वारा चंचल स्वभाव का है और विज्ञान शब्द में कहा जाने वाला चित् छायोपेत बुद्धि में विलय को प्राप्त हो जाता है तथा आनन्दमय को बुद्धि की वृत्ति कहा है। जिसमें पुण्य का उदय होने पर सुखाभास और पुण्य का क्षय होने पर दुःखाभास होने लगता है। जो ब्रह्मानन्द है, वह दुःख एवं सुख दोनों से अतीत है।

चतुर्थ अध्याय ''शांकर वेदान्त में आनन्द का स्वरूप-दार्शनिक दृष्टि है'', जिसके अन्तर्गत आनन्दवाद के सम्बन्ध में दार्शनिक दृष्टि, ब्रह्म एवं आनन्द, सत्, चित् एवं आनन्द, जीव एवं आनन्द, जगत् एवं आनन्द, मोक्ष एवं आनन्द, लोक एवं आनन्द, परलोक एवं आनन्द वर्णित है। ''आनन्दवाद के सम्बन्ध में दार्शनिक दृष्टि'' में वर्णन किया गया है कि आनन्द की लौकिक एवं साहित्यिक तथा दार्शनिक अवधारणा में अन्तर है। जहां लौकिक अवधारणा के अनन्तर इन्द्रिय-सुख गृहीत होता है वहां साहित्यिक अवधारणा से भावात्मक आनन्द का आशय है। काव्यानन्द भावानन्द का ही परिष्कृत रूप है। यद्यपि काव्यानन्द की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि होती है, फिर भी आध्यात्मिक आनन्द में जो शाश्वतता, परमार्थता तथा आनन्द की सगणता होती है, उसका लौकिक आनन्द एवं काव्यानन्द में अभाव होता है। अतएव आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को ही सच्चिदानन्दघन कहा है, लौकिक आनन्द तथा काव्यानन्द को नहीं। आनन्द की यह आध्यात्मिकता का दार्शनिक दृष्टिफल से विचार करने पर ही आनन्द जीवन का शाश्वत एवं परमार्थमूल्य सिद्ध होता है। ''सत्, चित् एवं आनन्द'' में उल्लिखित है कि सत, चित् एवं आनन्द ब्रह्म के अस्तित्व की समन्वित व्याख्या प्रस्तुत करते है। सत् ब्रह्म के अस्तित्व का, चित् ब्रह्म तत्व की चेतनता का सूचक

है। जहां तक ब्रह्म की आनन्द स्वरूपता का प्रश्न है, ब्रह्म एक आनन्द स्वभाव तत्त्व है। उसके आनन्द-स्वरूप होने के कारण उसे अनुभव-शून्य नहीं कहा जा सकता। ''जीव एवं आनन्द'' में कहा गया है कि जीव और ब्रह्म में अभेद है। जीव सुख दुःखादि का भौक्तृत्व तभी तक है, जब तक कि उसके अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो जाती। जिस समय जीव की अज्ञानोपाधि की निवृत्ति हो जाती है, तो वह स्वयं ही आनन्द-स्वरूपता की स्थिति को प्राप्त होता है। ''जगत् एवं आनन्द'' में वर्णित है कि जगत् अनित्य है। समस्त जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही माया शक्ति के कारण प्रपंच-रूप जगत् का कारण है। इसलिए ब्रह्म सर्वथा आनन्द-स्वरूप है और उसकी स्थिति जागतिक आनन्द से ऊपर है। ''मोक्ष एवं आनन्द'' में सर्वप्रथम यह बताया गया है कि आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है। मोक्ष का साक्षात्कार तथा अविद्या निवृत्ति ज्ञान द्वारा ही हो सकती है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म हो जाता है। वेदान्त में दो प्रकार की मुक्ति मानी गई है- जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्त प्राणी को अविद्या की निवृत्ति एवं ब्रह्म-बोध होने पर, जब तक कर्मादि का बोध समाप्त नहीं हो जाता, तब तक मुक्त पुरुष को शरीर धारण करना ही पड़ता है। मुक्त पुरुष के लिए अविद्या की निवृत्ति होने पर भ्रमादिजन्य दुःखानुभूति नहीं होती, क्योंकि अविद्याजन्य मिथ्याभिमान के कारण पुरुष को दुःखादि की अनुभूति होती है, उसे सर्वत्र आनन्दस्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं दिखाई देती। मोक्ष एवं आनन्द अपर पयार्य ही हैं। ''लोक एवं आनन्द'' में वर्णित है कि मोक्ष एवं परमानन्द का अनुभव साधक लोक में रहते हुए ही कर सकता है। इस प्रकार की स्थिति जीवन्मुक्तावस्था में ही प्राप्त है। ''परलोक एवं आनन्द'' के अन्तर्गत परलोक से अभिप्राय ब्रह्मज्ञान की स्थिति से कहा गया है। इस स्थिति में जीव ब्रह्म-स्थिति को प्राप्त करके ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है।

पंचम अध्याय ''शंकराचार्य के अनुसार आनन्द की भक्तिपरकता है'' इसके अनन्तर ''शंकराचार्य के स्तोत्र ग्रन्थों में भक्ति परक आनन्द''

का स्वरूप में शैव स्तोत्रों में आनन्द का स्वरूप, शाक्त स्तोत्रों में आनन्द का स्वरूप, वेदान्त स्तोत्रों में आनन्द का स्वरूप का वर्णन किया गया है। ''शैव स्तोत्रों में आनन्द'' के सम्बन्ध में वर्णित है कि आचार्य शंकर ने आत्मा को समस्त भौतिक पदार्थो से अतिरिक्त मानते हुए, शिवस्वरूप में चिदानन्द स्वरूप कहा है। शैव स्तोत्रों का आनन्दनिरूपण भक्ति एवं वेदान्त के समन्वित प्रवाह का परिचायक है। शंकराचार्य ने अपने शैवादि स्तोत्रों के माध्यम से वेदान्त के परमानन्द का भक्ति के स्तर पर अनुभव किया है। शैव स्तोत्रों के समान ही शाक्त स्तोत्रों के अन्तर्गत भी आनन्द की पृष्ठभूमि वेदान्त परक एवं भक्तिपरक है। अन्तर केवल यही है कि शैव स्तोत्रों के आराध्य शिव है एवं शक्ति स्तोत्रों में भगवती शक्ति, जिसके अनेक-रूप आराधना का लक्ष्य है। यहां यह भी निर्देश किया जा सकता है कि शिव और शक्ति का समन्वित रूप होने के कारण शैव स्तोत्रों में शक्ति तथा शाक्त स्तोत्रों में शिव के स्वरूप का स्पर्श प्राय: देखने को मिलता है। ''वेदान्त स्तोत्रों में आनन्द'' का स्वरूप में उल्लिखित है कि यद्यपि वेदान्त स्तोत्रों में आनन्द के अनेक-रूप उपलब्ध होते हैं, किन्तु इन सभी का मूल तत्त्व एक ही है। यह मूलतत्व सत्य, ज्ञान, अनन्त, शान्त, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त निर्गुण स्वरूप ब्रह्म है। इसी ब्रह्म तत्त्व की आनन्द स्वरूपता का वर्णन वेदान्त परक स्तोत्रों के अन्तर्गत किया गया है। भक्ति एवं ज्ञान में बताया गया है कि शंकर उपासना अथवा भक्ति को औपनिषदिक आधार के अनुकूल आत्मज्ञान के लिए आवश्यक मानते है। पर वे इसे परमार्थ भूमि पर स्वीकार नहीं करते। भक्ति एवं मोक्ष के अन्तर्गत भक्तिवर्ती आनन्द एवं मोक्ष-स्वरूप आनन्द के सम्बन्ध में विचार करते हुए इस पक्ष को प्रस्तुत किया गया है कि वेदान्त द्वारा समर्पित ज्ञानमूलक आनन्द की अपेक्षा भक्ति परक आनन्द के अन्तर्गत रस की प्रचुरता है, किन्तु इस सम्बन्ध में यह तथ्य अवलोकनीय है कि भक्ति मूलक आनन्द की अपेक्षा वेदान्त पुष्ट आनन्द के स्वरूप में शाश्वतता एवं कूटस्थता विशेष रूप से लक्षित है।

षष्ठ अध्याय ''शंकराचार्य परवर्ती वैष्णव वेदान्त में आनन्द का

स्वरूप'' है। जिसके अनन्तर विशिष्टाद्वैतवाद एवं आनन्दवाद, शुद्धाद्वैतवाद एवं आनन्दवाद, द्वैताद्वैतवाद में आनन्दवाद, द्वैतवाद एवं आनन्दवाद, चैतन्य महाप्रभु की आनन्दवादी दृष्टि तथा वैष्णव दर्शन के आनन्दवाद की भक्तिमूलक चेतना, इन सबका विवेचन किया गया है। इस अध्याय में वैष्णव दर्शनों के सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए यह प्रस्तुत किया गया है कि वैष्णव दर्शनों में ज्ञान की अपेक्षा मोक्षसाधन में भक्ति की ही प्रधानता है। वे भगवान् के सगुण, साकार रूप को ही स्वीकार करते है। जहां तक विभिन्न वैष्णवाचार्यो के आनन्दवाद का प्रश्न है, वहां यह प्रस्तुत किया गया है कि रामानुज ने विशिष्टाद्वैत ब्रह्म को ही आनन्दात्मक सत्ता कहा है। निम्बार्क के अनुसार भक्त के आनन्द के समक्ष समस्त आनन्द नगण्य है। वल्लभमत में जीव मुक्त हो जाने पर उसका ब्रह्म के साथ अभेद हो जाता है, तब पुनः लुप्त आनन्दांश की उत्पत्ति हो जाती है। और मध्वाचार्य के अनुसार परमात्मा विष्णु-स्वरूप है। भगवान् विष्णु के दर्शन एवं साक्षात्कार से साधक भक्त को अदभुत आनन्द का लाभ होता है। चैतन्यमत में भक्त भगवान् के स्मरण चिन्तन एवं संकीर्तन से ही परमानन्द का लाभ करता है।

अतः इस पुस्तक के अन्तर्गत आनन्दवाद का मूल्यांकन अनेक परिप्रेक्ष्यों में किया गया है। इस विवेचन के अन्तर्गत प्रमुख रूप से लेखिका की दृष्टि आध्यात्मिक एवं लौकिक आनन्द से सम्बन्धित रही है किन्तु आधुनिक युग के विचारक के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि आध्यात्मिक आनन्द की समाज में क्या उपयोगिता है? यह समस्या उचित ही है। इसका कारण यह है कि यदि कोई वस्तु या विचार या अनुभूति यदि लोकहितार्थ तो उसका क्या लाभ? तो यहां यही कहा जाएगा कि आध्यात्मिक आनन्द की समाज में परम उपादेयता है। यह इसलिए कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक आनन्द से लाभान्वित होकर जीवन्मुक्ति को प्राप्त करता है। वह समाज के लिए व्यर्थ नहीं होता, अपितु परमुयोगी सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में यह कहना उपयुक्त होगा कि ब्रह्मानन्द का अनुभवकर्ता व्यक्ति जीवन्मुक्त होता हुआ समस्त संसार में अभेद देखता है तथा समदर्शी

होता हुआ स्वभाव से ही ''सर्वभूतहितेरता:'' होकर समाज के लिए परमुपयोगी सिद्ध होता है। इस संदर्भ में रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द, श्री गुरु नानक देव जी, आदि अनेक तत्त्वज्ञानियों के उदाहरण दिए जा सकते हैं।

इस प्रकार वर्तमान युग में आनन्दवाद की उपयोगिता स्वत: सिद्ध है। आज का मानव अनेक प्रकार की विपत्तियों से आच्छादित है। इसके कारण अभाव, मन की चंचलता, पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव तथा लौकिक सुखों के प्रति आकर्षण आदि है। यहां यह स्पष्ट करना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि वर्तमान युग की उपर्युक्त समस्याओं का समाधान आध्यात्मिक ही है। यह इसलिए कि जिस व्यक्ति को आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि हो गई है, वह सांसारिक क्लेशों से विचलित नहीं होता। इसी प्रकार आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करने वाले को न सांसारिक सुख आकृष्ट करते हैं और न ही अन्यान्य भौतिक सुविधाएं। अत: यह कहना सार्थक होगा कि वर्तमान युग में लोक दृष्टि से भी आनन्द की परमुपादेयता है। आनन्द की उपयोगिता का एक अन्य पक्ष कि ब्रह्मानन्द में लीन व्यक्ति सभी में समभाव का अनुभव करता है तथा स्वभावत: शुभ कर्मों का सम्पादन करता है। इस प्रकार ब्रह्मानन्द के अनुभवकर्ता का दृष्टिकोण प्रकृति से ही कल्याणकारी होता है। इसीलिए आपान्तरतमा व्यास आदि के लोककल्याणार्थ जन्म ग्रहण करने के दृष्टान्त वर्तमान है। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि ब्रह्मानुभवकर्ता जीवन्मुक्त ज्ञानी लोक के लिए परमुपयोगी तथा हितकारक सिद्ध होते हैं।

सहायक ग्रन्थ सूची

1. अणुभाष्य - पुरुषोत्तमाचार्य, प्रकाश टीका, चौखम्बा संस्करण 1906
2. अद्वैतामृतसार - श्री मद्विजेन्द्रलाल-शर्मा पुरकायस्थेन विरचितः, गिरिराज शर्मा शास्त्री, भारती भवन, गोपाल जी का रास्ता, जयपुर द्वितीयावृतिः 1968
3. अद्वैतवेदान्त - डॉ० राममूर्ति शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली-1972
4. अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका - जगदीश सहाय श्रीवास्तव, किताब महल, 15 थीर्नहिल रोड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1978
5. अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान - डॉ० उर्मिला शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, पटना, वाराणसी, मार्च 1978
6. अद्वैतसिद्धि - मधुसूदन सरस्वती, संपादक अनन्तकृष्ण शास्त्री, निर्णयसागर मुद्रणालय, मुम्बई-1937
7. अन्व्यार्थ-प्रकाशिका - संक्षेप शारीरक पर रामतीर्थ की टीका, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी से प्रकाशित
8. अपरोक्षानुभूति - शंकराचार्य, श्री रंगम् 1972
9. आत्मानात्मविवेक - डॉ० जगदीशचन्द्र मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन-1973
10. आत्मबोध - शंकराचार्य, वाणी विलास प्रेस, श्री रङ्गम
11. इष्टसिद्धिः - विमुक्तात्मा, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, ओरियन्टल इन्स्टीयूट, बड़ोदा-1933
12. ईशोपनिषद् शांकरभाष्य - गीता प्रेस गोरखपुर-1943
13. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण - रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे अनुवादक रामानन्द तिवारी, राज्यस्थान
14. उपनिषद् वाक्य महाकोश - गुजराती प्रिंटिंग प्रैस, मुद्राणालयम, मुम्बापुरी
15. उपनिषद् वाक्य महाकोश - कोलोनल जी० ए० जैकब, मोतीलाल बनारसीदास, बंगला रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-1963
16. ऐतरेय उपनिषद् मध्व भाष्य - स्वामी योगेश्वरानन्द, अद्वैताश्रम मायावती अलमोरा हिमालया, तृतीय संस्करण-1950
17. ऐतरेय उपनिषद् शांकर भाष्य - गीता प्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण-1943
18. ऋग्वेद संहिता - मूल स्वाध्याय मण्डल, पारडी सूरत तृतीय संस्करण-1957
19. ऋग्वेद संहिता - सायर्ण भाष्य वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, सन्-1946
20. ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व - डॉ० गणेश दत्त शर्मा, विमल प्रकाशन गाजियाबाद-1977

21. कठोपनिषद शांकर भाष्य - गीता प्रेस, गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण-1941
22. कल्याण उपनिषद् अंक - गीता प्रेस, गोरखपुर
23. कल्याण भागवत अंक - गीता प्रेस, गोरखपुर 1941
24. कल्याण वेदान्त अंक - गीता प्रेस, गोरखपुर, सितम्बर-1883
25. केन उपनिषद् शांकर भाष्य - गीता प्रेस गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण-1941
26. गौड़पाद कारिका - गौड़पादाचार्य बनारस, 1942
27. चैतन्य चरितामृत मध्यलीला - भास्करानन्द सरस्वती कलकत्ता, 1882
28. तत्त्वार्थ दीप - श्री वल्लभाचार्य रचित्, संपादक केदार मिश्र वाराणसी, 1971
29. तत्त्वचिन्तामणि - जयदयाल गोयन्दका, गीता प्रेस गोरखपुर प्रथम संस्करण सम्वत् 1986
30. तत्त्वदीपन - अखण्डानन्द, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस-17
31. तत्त्वप्रदीपिका - चित्सुखाचार्य, निर्णयसागर प्रेस, 1915
32. तैत्तिरीयोपनिषद् - शांकर भाष्य, गीता प्रेस गोरखपुर, सम्वत् 1993
33. न्यायदर्शन - गौतम, भारतीय विद्या प्रकाशन-1966
34. दशश्लोकी - निम्बार्काचार्य चौखम्बा संस्करण-1985
35. द्वैत वेदान्त का तात्विक अनुशीलन - डॉ० कृष्णकान्त चतुर्वेदी, विद्या प्रकाशन मन्दिर-6, 1971
36. पंचपादिका - पद्मपाद, मद्रास गवर्नमैंट, 1958
37. परम साधन - जयदयाल गोयन्दका, गीता प्रेस गोरखपुर, प्रथम संस्करण संवत् 2013
38. पाणिनि सूत्र - पाणिनि संपादक, रामलाल कपूर ट्रस्ट-1955
39. पुरुषार्थ-चतुष्टय - प्रेमवल्लभ त्रिपाठी, राजविद्या ग्रन्थमाला, डी० 1/7 सरस्वती-फाटक, वाराणसी-1, प्रथम संस्करण-1100
40. प्रमेयरत्नावली - श्री बलदेव विद्याभूषण, संस्कृत साहित्य परिषद कलकत्ता, 1927
41. प्रश्नोपनिषद् - शंकराचार्य, गीता प्रेस गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण-1944
42. प्रस्थान रत्नाकर - पुरुषोत्तम जी महाराज, चौखम्बा संस्करण-1909
43. बृहतस्तोत्ररत्नाकर सचित्रः - खमराज श्री कृष्णदास मुम्ब यां स्वकीये ''श्री वेंकटेश्वर'' स्टीममुद्रणालये मुद्रयित्वा प्रकाशितः 1847
44. बृहदारण्यकोपनिषद् मध्वभाष्य - स्वामी योगेश्वरानन्द, अद्वैताश्रम मायावती अलगोरा हिमालया, तृतीय संस्करण-1950
45. बृहदारण्यकोपनिषद शांकरभाष्य - गीताप्रेस गोरखपुर, प्रथम संस्करण-1942
46. बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक - सुरेश्वराचार्य, आनन्दाश्रम संस्कृत-1892
47. ब्रह्मसिद्धि - मण्डनमिश्र, गवर्नमैंट प्रेस-1937
48. ब्रह्मसूत्र निम्बार्कभाष्य - श्री निम्बार्काचार्य, श्री कल्याणदास वृन्दावन, प्रथम संस्करण-1932
49. ब्रह्मसूत्र भामती - वाचस्पति मिश्र, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

50. ब्रह्मसूत्र मध्यवभाष्य - श्री सत्यानन्द सरस्वती, गोविन्दमठ टेढ़ीनीम वाराणसी, प्रथम संस्करण - 1965
51. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य - श्री सत्यानन्द सरस्वती, गोविन्दमठ टेढीनीम, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 1965
52. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य - स्वामी श्री हनुमानदास जी षट्शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी द्वितीय संस्करण - 1977
53. भगवद् - भक्ति - रासायन - जनार्दनशास्त्री पाण्डेय द्वारा सम्पादित काशी।
54. भगवद् - भक्ति - रासायण - मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी - 1961
55. भविष्य पुराण - निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
56. भागवत - निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित
57. भागवत - प्रथम श्लोक की व्याख्या मधुसूदन सरस्वती, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी - 1933
58. भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन - डॉ० सत्यदेव शास्त्री, भरत भारती, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 1978
59. भारतीय दर्शन - बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी - 5, 1971
60. भारतीय दर्शन - डॉ० न० कि० देवराज, उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी लखनऊ
61. भारतीय दर्शन - श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, डॉ० धीरेन्द्र मोहन दत्त, पुस्तक भण्डार, पटना
62. भारतीय दर्शन की रूपरेखा - डॉ० गोवर्धनभट्ट, श्रीमती मंजु गुप्त, श्री सुखबीर चौधरी, राजकमल प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, 8 फैज बाजार, दिल्ली - 6
63. भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व - रामनाथ शर्मा, 79 विजयनगर मेरठ
64. भारतीय दर्शन में मोक्ष चिंतन एक तुलनात्मक अध्ययन - डॉ० अशोक कुमार लाड, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
65. मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि - डॉ० कमला देवी, अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद, अक्तूबर 1988
66. महावाक्य विवरणम - श्री मत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री शंकराश्रम यतिवर्यैविर चितम्, क्षेमराज श्रीकृष्णदास श्रेष्ठिना, मुम्ब यां सं० 1971
67. माण्डूक्य उपनिषद शांकर भाष्द - गीता प्रैस गोरखपुर, संवत् 1993
68. माण्डूक्यकारिका - गौड़पाद कारिका शांकर भाष्य सहित गीता प्रेस गोरखपुर, तृतीय संस्करण - 1942
69. मुण्डकोपनिषद् शांकरभाष्य - गीता प्रेस गोरखपुर, तृतीय संस्करण - 1942
70. यतिपतिमतदीपिका - श्री निवासाचार्य, ब्रज बी० दास एण्ड कं०, बनारस - 1907
71. योगसूत्र - स्वामी श्री ब्रह्मलीन मुनि, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, तृतीय संस्करण - 1984
72. विवेकचूड़ामणि - श्री आद्यशंकराचार्य विरचित, गीता प्रेस गोरखपुर
73. विष्णु पुराण - गीता प्रेस गोरखपुर, विक्रम 1940
74. वेदान्त कौस्तुम - श्री निवासाचार्य, श्री कल्याणदास वृन्दावन, प्रथम संस्करण - 1932

75. वेदान्त दर्शन - हरिकृष्ण दास गोयन्दका, गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् 2009

76. वेदान्त रत्न मंजुषा - पुरुषोत्तमदास वैष्णव, बनारस 1907

77. वेदान्तसार - राममूर्ति शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1978

78. शंकराचार्य - बलदेव उपाध्याय, हिन्दुस्तान एकेडमी, उत्तर प्रदेश इलाहाबाद, 1950

79. शंकराचार्य उनके मायावाद तथा अन्य सिद्धांतों का आलोचनात्मक अध्ययन - डॉ० राममूर्ति शर्मा, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ 1964

80. शत्श्लोकी - श्री मच्छङ्कराचार्यकृत, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् 1992, प्रथम संस्करण

81. शाण्डिल्य सूत्र - पाणिनि आफिस, इलाहाबाद - 1912

82. शाण्डिल्य सूत्र - गीता प्रेस गोरखपुर

83. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड - गिरिधर गोस्वामी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस, 1906

84. श्वेताश्वेतर उपनिषद - गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण - 1943

85. श्रीभद्भगवद्गीता - जयदयाल गोयन्दका, प्रथम संस्करण संवत् 2004

86. श्री मद्भगवद्गीता - शांकरभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण सं० 1927

87. श्री मद्भागवत महापुराण - महर्षि वेदव्यास प्रणीत, गीता प्रेस गोरखपुर संवत् 1996

88. श्री मद्वल्लभाचार्य उनका शुद्धाद्वैत एवं पुष्टिमार्ग - लक्ष्मी शंकर निगम एवं श्रीमती शोभा निगम, सेन्ट्रल बुक हाऊस, सदर बाज़ार, रायपुर

89. श्री पंचदशी - डॉ० चमन लाल गौतम, ख्वाजा कुतुब, बरेली - 1986

90. श्री भाष्यम् - वडुवूर रङ्गनाथाचार्य, शिरोमणि विरचित हिन्दी व्याख्या, वि० एस० रङ्गनाथाचार्य 17/1 जानकि राम पिल्लै स्ट्रीट, मद्रास - 33, 1972

91. श्री माध्व वेदान्त - जगदगुरु श्री मन् माध्वाचार्य, मुनिलाल प्रकाशन अधिकारी, श्री निम्बार्क पीठ, 1.12 महाजनी टोला प्रयाग, प्रथम संस्करण संवत् 203 ।

92. षट्-सन्दर्भ - श्री जीव गोस्वामी अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय बनारस कलकत्ता, 1822

93. सर्वदर्शन-संग्रह - चौखम्बा संस्करण, बनारस, 1907

94. सर्वसंवादिनी - माधवाचार्य चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1964

95. सर्वसंवादिनी - जीव गोस्वामी बंगाक्षर, श्री हरिदास शर्मा कलकत्ता, सन् 1927

96. संस्कृत-हिन्दी-कोश - वामन शिवराय आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी।

97. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ - स्वर्गीय चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा तथा पण्डित तरिणीश झा, वैयाकरण वेदान्ताचार्य, रामानारायण लाल बेनी प्रसाद प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता, 1928

98. संक्षेप शारीरिक - सर्वज्ञात्मुनि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, विद्याविलास प्रेस काशी, प्रथम संस्करण - 1914

99. सिद्धान्तलेश-संग्रह - अप्पय दीक्षित, अच्युत ग्रत्थमाला कार्यालय, काशी, संवत् 2011

100. स्वतन्त्र कला शास्त्र - कान्तिचन्द्र पाण्डेय, वाल्यूम - I II चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी - 1978



नाम - डॉ० सीमा कंवर

जन्म - 20/07/1966, चण्डीगढ़

शिक्षा - शिशु निकेतन माडल स्कूल सैक्टर-22, चण्डीगढ़, एम०सी०एम० डी० ए०वी० कॉलेज सैक्टर-36 चण्डीगढ़, पंजाब विश्वविद्यालय सैक्टर--14 चण्डीगढ़, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय हरियाणा

शैक्षिक योग्यताएँ - बी.ए., बी.एड., एम.ए., एम.फिल्., पीएच.डी.

अध्यापन - संस्कृत-हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं शिक्षिका - शिवालिक पब्लिक स्कूल सैक्टर-41 चण्डीगढ़।

संस्कृत प्रवक्ता एवं विभागाध्यक्ष - एम०सी०एम०डी०ए०वी० कॉलेज, सैक्टर-36, चण्डीगढ़।

शोधकार्य - (1) सौन्दर्यलहरी के अन्तर्गत सौन्दर्य सिद्धान्त

(2) शांकर वेदान्त में आनन्दवाद का स्वरूप

(3) लगभग १० शोध पत्र प्रकाशित।

अभिनन्दन/सम्मान - शिक्षक दिवस पर लायन्स क्लब चण्डीगढ़ ग्रेटर द्वारा सम्मानित।

उत्तम शिक्षा के प्रति वचनबद्धता हेतु एच.टी.पेस द्वारा सम्मानित।

IBA Publications
6269/P, Nicholson Road,
Ambala Cantt. 133 001 (India)


ISBN 81-87883-54-5